साहित्यिक निबन्धों के लिए ऐसी पुस्तकें वांछनीय होती हैं जो अल्प एवं सुगम शब्दों द्वारा तत्तद् विषयों का प्रतिपादन करती हों। प्रस्तुत पुस्तक ऐसे ही निबन्धों का निचोड़ है। जहाँ लेखकों की योग्यता स्तुत्य है, वहाँ सम्पादक का प्रयत्न भी प्रशंसनीय है। विद्यार्थियों के लिये ऐसी सुगम और सुन्दर परीक्षोपयोगी पुस्तक को प्रस्तुत करना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। आशा है कि शिक्षित जनता एवं शिक्षा-विभाग इसे अपनाकर सम्पादक का उत्साह बढ़ायेंगे।

—डा० विमल कुमार जैन,
एम०ए०,पी०एच०डी०

साहित्य सुमन

सम्पादक

श्री शरण

नव साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-१

ार रुपये

मुद्रक —
इण्डियन यूनियन प्रेस
दरिया गंज, दिल्ली ।

लेखक-मण्डल

डा० विमल कुमार जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०,
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, प्रभाकर,
उपाध्याय–दिल्ली कालिज, दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली।

प्रो० हरिदत्त शर्मा, एम० ए०,
उपाध्याय-गवर्नमेंट इन्टरमीडियेट कालिज, पीलीभीत।

प्रो० जयचन्द राय, एम० ए०,
उपाध्याय-महानन्द मिशन कालिज, गाज़ियाबाद।

प्रो० श्रवण कुमार, एम० ए०, एल० टी०,
उपाध्याय-श्री सनातनधर्म कालिज, गाज़ियाबाद।

प्रो० रामरत्न गुप्ता, एम०ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत),
उपाध्याय-डी० ए० वी० कालिज, मुज़फ्फरनगर।

श्री हर प्रसाद शास्त्री,
उपाध्याय-श्री सनातन धर्म कालिज, गाज़ियाबाद।

सुश्री निर्मला माथुर, प्रभाकर, साहित्य रत्न,
कवियित्रि, कथाकार, मूर्तिकार और साहित्य समालोचिका,
आर्य गर्ल्स हायर सैकेन्डरी स्कूल, चावड़ी बाज़ार दिल्ली।

श्री जानकी बल्लभ, साहित्य रत्न,
सहायक सम्पादक, 'वीर अर्जुन दैनिक' दिल्ली।

श्री सुरेशचन्द्र शर्मा, साहित्य रत्न,
सहायक सम्पादक, 'वीर अर्जुन साप्ताहिक' दिल्ली।

सुश्री रामेश्वरी शर्मा, एम० ए०,
कथाकार, आलोचिक और निबन्ध-लेखिका।

सुश्री सुदेश शरण 'रश्मि' प्रभाकर,
नाटककार, कथाकार और निबन्ध-लेखिका।

सुश्री राधा कुमारी सक्सेना,
कवियित्री और कथाकार।

श्री प्रेमचन्द गुप्ता,
कहानीकार, चित्रकार और आलोचक।
यूनाईटेड स्टेट इन्फोरमेशन सर्विस, ६ दरियागंज, दिल्ली।

श्री योगेश्वरचन्द्र, सहित्याचार्य, प्रभाकर,
लघु कथाकार, उपन्यासकार और अर्थ समस्याओं के लेखक।

श्री बृजमोहन शर्मा, एम० ए०,
पत्रकार और सुयोग्य लेखक।

श्री कृष्णकुमार गौड़, 'कुमार नीरस', विशारद,
कवि, कहानीकार, गद्यगीतकार, एकांकी नाटककार और
प्रतिभावान तरुण लेखक।

सुश्री विद्यावती जैन, प्रभाकर,
सुयोग्य लेखिका और साहित्य-समालोचिका।

श्री देवराज सिब्बल
लघु कथाकार और आलोचक।

श्री ललित विमल, बी० एस० सी०,
कवि, कहानीकार और गद्य गीत लेखक।

श्री हरशरणदास 'शरण'
साहित्याचार्य, साहित्य शिरोमणि, सिद्धान्त वाचस्पति, प्रभाकर,
हिन्दी विभाग–श्री जैन श्रमणोपासक हाई स्कूल,
सदर बाज़ार दिल्ली।

दो शब्द

अल्पकाल की प्रतीक्षा के उपरान्त आज 'साहित्य-सुमन' आपके सन्मुख प्रस्तुत है। इसका वास्तविक मूल्यांकन तो आप ही कर सकते हैं और यदि इससे आपकी कुछ भी सहायता और ज्ञानोपार्जन हो सका तो मेरा और मेरे साथियों का यह प्रयास सफल होगा। इस गद्यकाल में 'साहित्य-सुमन' को उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्धों को प्रदान करने तथा आप तक पहुँचाने में जिन जिन लेखकों और कवियों ने सहयोग दिया है—मैं उनका हृदय से आभारी हूं और उनको धन्यवाद देता हूँ। किन्तु उन्होंने अपने निबन्धों में जिन विचारों का प्रतिपादन किया है वे उनके व्यक्तिगत हैं और मैं उनके लिये किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं हूँ।

इनके साथ ही मैं अपनी प्रोत्साहनदाता सुश्री सुदेशशरण 'रश्मि' और अपने अभिन्न मित्रों में प्रो० हरिदत्त जी एम० ए०, स्वर्णपदक विजेता, श्री जगदीश 'रवि' एम० ए०, श्री कृष्ण कुमार गौड़, 'कुमार नीरस' की सेवाओं को भी नहीं भुला सकता हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य परामर्श और समय देकर "साहित्य सुमन" को श्रेष्ठतम बनाने में पूर्ण सहयोग दिया है।

दिनांक १६ दिसम्बर १९५१

'शरण'
—सम्पादक

विषय-तालिका

भूमिका

वक्तृत्व कला के समान लेखन भी एक कला है। न सभी वक्ता हो सकते हैं और न सभी लेखक ! आक्षेप-अभिक्षेप से हीन प्रवाह पूर्ण हृदय-ग्राह्य भाषा में जो विषय का प्रतिपादन एवं स्पष्टीकरण कर सकता है, वही सफल वक्ता एवं लेखक हो सकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि एक व्यक्ति किसी मंच से विशाल जन-समूह को अपनी मनोहारिणी वाणी से मुग्ध कर लेता है पर उसकी लेखनी शब्दों में वह मधुरिमा, शक्ति एवं प्राण नहीं भर पाती। इसी प्रकार एक अपनी लेखनी द्वारा लक्षाधिक पुरुषों में जीवन-शक्ति फूंक सकता है परन्तु भाषणार्थ खड़े होते ही कम्प का अनुभव करने लगता है। इन दोनों कलाओं में लेखन कला श्रेष्ठ है क्यों कि वक्ता अल्प समय में अपने विचारों को प्रकट कर उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त समझता है किन्तु लेखक यह सोचकर कि उसका लेख उसकी योग्यता और अयोग्यता का एक प्रमाण पत्र है, लिखने से पूर्व और लिखते हुए पर्याप्त मनन करता है और लेखनोपरान्त अपने को उत्तरदायी समझता है। यही कारण है कि लेखक वक्ता की अपेक्षा विषयानुसार विषय क्रम, आरोहावरोह, शब्द योजना तथा वाक्य विन्यास आदि पर विशेष ध्यान रखता है।

लेखक सदैव अपनी लेखनी द्वारा विविध विषय-चित्रों में उसी प्रकार रंग भरा करता और उन्हें अनुप्राणित सा किया करता है जिस प्रकार एक चतुर चितेरा अपनी तूलिका द्वारा अपने चित्रों में। यदि पाठक या श्रोता किसी लेख से विमुग्ध होते और जीवन-सामग्री पाते हैं तो समझना चाहिए कि लेखक ने उसमें जान डाल दी है और इस प्रकार वह अपने लक्ष्य में सफल हुआ है। जिस लेखक की

लेखनी से लिखे लेख में जीवन का लेखा नहीं, विषय की रमणीय अवतारणा नहीं, शब्द-सञ्चय में सामञ्जस्य नहीं, वर्णन में आकर्षण और भाव-विलास में लास्य नहीं वह लेख शब्द-समूहों का शव है, वह लेखनी नीरस यष्टि है और वह लेखक प्राण हीन प्राणी है। अतः इन गुणों का होना आवश्यक है।

लेखों में भावों का चित्रण भी होता है, घटना-गुम्फन भी होता है तथा वस्तु-वर्णन, तुलना और मूल्याङ्कन आदि भी होता है। इस प्रकार लेखों में विविध विषयों का निबन्धन होने से निबन्ध अनेक प्रकार के होते हैं, यथा-भावात्मक, वर्णनात्मक, आलोचनात्मक एवं घटना प्रधान आदि। साहित्यिक लेखों में भाव-निबन्धन एवं भाव-व्यंजन भी हो सकता है, वर्णन भी हो सकता है तथा आलोचना और तुलना भी। साधारणतः भावात्मक एवं वर्णनात्मक निबन्धों की अपेक्षा साहित्यिक निबन्धों में भावाङ्कन तथा वस्तुवर्णन भिन्न ढंग से होता है। इनमें साहित्य निर्माता एवं उसकी कृति को लक्ष्य में रखकर भावों का विश्लेषण, वस्तु का वर्णन, घटनाओं की नियमित योजना तथा उनकी खरी-खोटी आलोचना होती है। इस प्रकार पाठक इन निबन्धों द्वारा साहित्य-सृष्टा एवं उसके साहित्य के वास्तविक मूल्य और स्थान को जानकर उनकी वास्तविकता से परिचित होता है।

आधुनिक समय में साहित्य-कारों एवं उनकी रचनाओं के विषय में लिखे गए जितने भी लेख मिलते हैं, वे प्रायः गम्भीर विवेचन से पूर्ण और विशालकाय होते हैं, जो विद्यार्थियों को पुष्प-फल-पूर्ण भी कण्ठकारण्य के समान प्रतीत होते हैं। परीक्षार्थी विद्यार्थी उनमें उलझना नहीं चाहते क्योंकि वे सदैव मितभोजी की भांति परिमित ही ग्रहण करना चाहते हैं और जहां से भी सुगमता पूर्वक पाते हैं, वे ले लेते हैं। अतः साहित्यिक निबन्धों के लिए ऐसी पुस्तकें ही वांछनीय होती हैं जो अल्प एवं सुगम शब्दों द्वारा तत्तद् विषयों का प्रतिपादन करती हों।

प्रस्तुत पुस्तक ऐसे ही निबन्धों का निचय है। इसमें विविध लेखकों द्वारा हिन्दी-साहित्य के चारों कालों में हुए चन्द, कबीर,

जायसी, सूर, तुलसी, केशव, भूषण, मैथिली शरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, और निराला आदि कवियों, उनकी प्रमुख रचनाओं, छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रगतिवाद आदि वादों, नाटक, समालोचना आदि साहित्यिक अंगों पर थोड़े में ही बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में बहुत से लेख तो गागर हैं जो तरङ्गित-भाव-सागर को अपने में सीमाबद्ध किए हुए हैं। यह पुस्तक ऐम० ए०, बी० ए० एवं ऐफ़० ए० के विद्यार्थियों तथा साहित्य रत्न, प्रभाकर एवं हिन्दी के उच्च परीक्षार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जहां लेखकों की योग्यता स्तुत्य है वहां सम्पादक का प्रयत्न भी प्रशंसनीय है। विद्यार्थियों के लिए ऐसी सुगम और सुन्दर परीक्षोपयोगी पुस्तक को प्रस्तुत करना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। आशा है कि शिक्षित जनता एवं शिक्षा विभाग इसे अपना कर सम्पादक का उत्साह बढ़ावेंगे।

दिनांक १६-१२-५१

विमल कुमार जैन, ऐम०ए०, पी० ऐच० डी०,
दिल्ली कालिज, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

हिन्दी में राष्ट्रीय कविता

जब वेदना-ज्वाला की लपटें नक्षत्र-लोक को झुलसा रही हों, कल्पना के स्वर्ण-परों पर कवि का स्वप्न पंछी आकाश में कैसे विहार कर सकता है। जब अबलों के उच्छ्वासों की तप्तवायु-तरंगों से उपवन-भस्म हो रहे हों, कवि कुसुम-कुञ्ज की ज्योत्स्ना-छाया के जाल में बैठ कर अनन्त की झाँकी कैसे कर सकता है ! जब दीनों और पराजितों के करुण-क्रन्दन से दिशाएँ प्रति ध्वनित हो रही हों, कौन मधुर संगीत स्वर-लहरों से वातावरण को स्पंदित कर सकता है। आज भारत की भी यही अवस्था है। हम अपनी संकुचित सीमा में तिलमिला उठे हैं, पराधीनता के बन्धनों में तड़प उठे हैं और अभाव के सीमित आंगन में अकुला उठे हैं। दशा यह है; तो हिन्दी साहित्य-विशेषत: कविता—में हमारी मानसिक भावनाओं की प्रतिध्वनि क्यों न गूँजे।

राष्ट्रीय भावना आज के युग की मुख्य प्रवृति है। अनेक कवि इस को चित्रित करने में अपनी वाणी और लेखनी सफल कर रहे हैं। राष्ट्रीय भावना का चित्रण कई प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम राष्ट्रीयता में प्राचीनता-आर्यत्व और आस्तिकता का अवलम्ब लेकर देश में जागृति और युवकों में उत्तेजना उत्पन्न की जा सकती है। आर्यत्व और प्राचीनता का अवलम्ब लेकर चलना भारत को जन्म-भूमि ही नहीं, पुण्य-भूमि भी समझना है। पुण्य-भूमि, अपने उपासना-स्थल और देवालय को भला हम कैसे पराधीन देख सकते हैं।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीयता इसी कोटि की है। बंकिम् का 'वन्दे मातरम्' गान भी हमारी पुण्य और आर्य राष्ट्रीयता का ही चित्र है। इसमें भारत की अत्यन्त पुण्यमयी, पवित्र, शक्तिवान्, आशा-मयी प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो गई है। रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गानों में आर्यत्व का चित्र है और आस्तिकता द्वारा ही वे राष्ट्रीयता का प्रसार

चाहते हैं

अलख निरंजन,
महारव उठे, बन्धन टुटे,
करे भय-भंजन।
वक्षेर पासे घन उल्लासे,
असि वाजे झन झन।
पंजाब आज उठिलें गरजि,
अलख निरंजन।

—रवीन्द्रनाथ,

कवीन्द्र रवीन्द्र अलख निरंजन शंकर का आह्वान करते हुए ही देश को जगाना चाहते हैं। शंकर ही वीरता का प्रथम देवता है, उसके आह्वान के विना देश में जागृति कैसे होगी-असि झन-झन कैसे बजेगी।

बार-वार जव हमें अपने प्राचीन गौरव, विद्या, कला, कौशल, स्वातन्त्र्य, प्रियता, निर्भयता और शक्ति का स्मरण करा कर उकसाया जाता है तो हमें अपनी अशक्तता तथा परा-धीनता पर लज्जा आती है। अपने पूर्व गौरव के लिये हमारे अन्दर व्याकुलता उत्पन्न होती है।

यह पुण्य-भूमि प्रसिद्ध है इसके निवासी आर्य हैं।
विद्या, कला, कौशल सभी के जो प्रथम आचार्य हैं।
सन्तान उनकी हम यदपि हैं आज दुर्गति में पड़े।
पर चिन्ह उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े।

—भारत-भारती

आवहुं सव मिलिकै रोवहुं भारत भाई।
हा-हा! भारत–दुर्दशा न देखी जाई।
सबसे पहले जेहि ईश्वर धन-बलदीनो।
सबसे पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो।

❀ ❀ ❀ ❀

अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
आवहुं सब मिलि कै रोवहुं भारत भाई।

—भारतेन्दु

इस आस्था पूर्ण धार्मिकता से ओत-प्रोत और आर्यत्व से प्रेरित राष्ट्रीयता में आत्म-विश्वास और आशा की स्फूर्ति है। मैथिली बाबू, भारतेन्दु आदि की कवितायें इसी कोटि में आती हैं। इनकी राष्ट्रीयता में देश-भक्ति के साथ ही हिन्दुत्व का भी पुट है।

इसी धारा की शाखा है जिसे हम ऐतिहासिक आलम्बनों से प्रेरित उत्तेजक राष्ट्रीयता की भावना कह सकते हैं। इस धारा के कवि प्राचीनता की ओर इतना नहीं जाते, जितना वे मध्य युग में रहते हैं। इसमें सोया हुआ इतिहास भी दिया जाता है। इसी से हमें इस कविता से एक मोह सा हो जाता है और यह हमारे हृदय तक पहुंचने में अधिक समर्थ होती हैं।

ओ मौन तपस्या लीन यती,
पल-भर तो कर दृगोन्मेष।
रे ज्वालाओं से दग्ध विकल,
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।
कितनी मणियां लुट गई, मिटा,
कितना मेरा वैभव अशेष।
तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर,
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।

—दिनकर

❀ ❀ ❀ ❀

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आज़ादी की क़ीमत सबने पहचानी थी,
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

—सुभद्रा कुमारी चौहान

उठ, चल, जग मरुस्थल के सदियों से सोते रेती-कण,
हो न जाय बहनों के हाथों का ढीला रक्षा बन्धन।
आज पुनः चित्तौड़-विजय का एक बार हम प्रण ठानें,
चल, हल्दी-घाटी में फिर कुर्बान करें अपनी जानें॥

ऊपर की कवितायें हमारे हृदय में एक सोये हुए इतिहास को जगा देती हैं। युग-युग की हमारी सुप्त राष्ट्र-भावना उत्तेजित हो उठती है। झाँसी वाली रानी को कौन मनुष्य नहीं जानता। चित्तौड़ का कितना वैभव जौहर की ज्वाला में मुस्कराते हुए राख हुआ है। राजस्थान की रेती के कण-कण में कितने वीर-बलिदान सोये पड़े हैं। यदि वे जाग जायें।

दूसरी प्रवृत्ति वह है जिसमें आधुनिकता पर ही जोर दिया जाता है। राजपूतों की वीरता, बलिदान, प्राचीन आर्य-शक्ति और शौर्य का इसमें स्थान कम है। इस प्रवृति में एक मात्र देश भक्ति है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की ध्वनि है और इसमें देश के नाम पर मर-मिटने की साध है।

मुझे तोड़ कर ऐ वनमाली,
उस पथ में तू देना फेंक।
बलि वेदी को मातृ-भूमि-हित,
जिस पथ जाते वीर अनेक।

—भारतीय आत्मा

कवि की एक मात्र कामना राष्ट्र के लिये, देश के वास्ते प्राण दे देना है। यह भावना अत्यन्त निष्काम, पावन और आदर्श देश-भक्ति पूर्ण है।

कोई नहीं है गैर—
बाबा कोई नहीं है गैर।
हिन्दू-मुस्लिम सिख-ईसाई,
सब आपस में भाई-भाई,
बे मतलब का बैर।
बाबा कोई नहीं है गैर।

बिना हिन्दू-मुस्लिम-एकता स्वाधीनता कैसी, राष्ट्रीयता कैसी। इसलिये कितने संत और राष्ट्रीय कवि दोनों धर्मों की एकता चाहते हुए बताते हैं कि दोनों वास्तव में एक ही हैं।

विजयिनी मां के वीर सुपुत्र पाप से सहयोग लें ठान।
गुंजा डालें स्वराज्य की तान और सब हो जावें बलिदान।
जरा ये लेखनियां उठ पड़ें मातृ भू को गौरव से मढ़ें।
करोड़ों क्रांतिकारिणी मूर्ति पलों में निर्भयता से बढ़ें।

—सुभद्रा कुमारी चौहान

असहयोग, स्वराज्य, सत्याग्रह, अहिंसा, भारतीय राष्ट्रीयता के आज विशेष अंग हो रहे हैं। इन्हीं क प्रचार और प्रयोग की कामना करते हुए देश की स्वतन्त्रता चाही जा रही है।

तीसरी प्रवृति वह है, जिसमें क्रांति का भयंकर आह्वान है। सर्वनाश और उथल पुथल की कामना है। नज़रूल इस्लाम के छात्र दलेर गान, विद्रोही आदि गीत इसी प्रकार के हैं। आज हिन्दी में इसी का जोर है। यह नवयुवकों के हृदय को अधिक आकर्षित करने वाली है।

अनल गीत गा उठ तू निर्भय,
घिर आये ज्वलन्त ज्वाला।
तू पहनादे जग-ग्रीवा में,
यह अंगारों की माला।

—नवीन

वही आग, जिसकी ज्वाला में जली 'पदिमनी' जौहर वाली,
वही आग, जिसकी लपटों में अमर हुई 'मैना' मतवाली।
वही आग, थी देवि 'जौन' ने पहनी जिसकी उज्ज्वल साड़ी,
वही आग, था भस्म हो गया जिसमें पागल मदन खिलाड़ी।

—प्रेमी।

विध्वंसों का तू अधिनायक—
तुझे सजन की कैसी चिंता।

इसकी फिक्र स्वयं कर लेगा,
वह जग-नायक विश्वनियंता।

ऊपर की कविताओं में भयङ्कर ज्वाला की कामना, विध्वंस और विनाश या आह्वान है। इनमें महानाश की उत्कंट अभिलाषा है। महानाश में ही सृष्टि का सृजन है।

इस धारा के साथ ही साम्यवाद की भावना भी हिन्दी कविता में आ रही है। इस ओर नवीन कवि अधिक झुके हैं। उनकी कविता में एक भीषण उत्तेजना, जोश, अदम्य उत्साह, पीड़ित जनों के प्रति सहानुभूति तथा शोषकों—अत्याचारियों के प्रति हिंसा, प्रतिशोध और दण्ड की भावना है।

दौलत वालों की दीवाली और हमारे लिये दिवाला,
उनके घर वैभव न समाता, हमें नहीं उपलब्ध निवाला।
मावस की काली रजनी में धनिक जलाते दीपक-माला,
देख रहे हम उस जग मग में हमें जलाने वाली ज्वाला।

– प्रेमी

क़ब्र-क़ब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती हैं,
'दूध-दूध' की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती हैं।
'दूध-दूध' ओ वत्स, मंदिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं,
'दूध-दूध' तारे बतला इन बच्चों का भगवान कहाँ हैं।

—दिनकर

जब समाज में इतना वैषम्य है। एक ओर दूध के लिये गले सूख कर प्राण निकल रहे हैं और दूसरी ओर दूध बहा फिर रहा है। एक ओर वैभव भी नहीं समाता और दूसरी ओर निवाला भी उपलब्ध नहीं। फिर इस विषमता को दूर करने के लिये हम आकुल क्यों न हो उठें।

आज यह दारुण्य मेरा बह्नियां एकत्र करके,
खींच तारों की कतारें सांस में बारूद भरके।
खाक करदे रूढ़ियों को खाक करदे असम बल,

चल उलझ मत आंसुओं से आज मेरे प्राण चंचल।
—उदयशङ्कर भट्ट

फिर क्यों न 'असम' को नष्ट कर दिया जाये। इस विषमता को दूर करने के लिये क्यों न अस्थि-पंजर अकुला उठें, व्याकुल हो उठें।

अस्थि-पंजरों पर वर्षों से शोभित स्वर्ण सिंहासन डोला,
ढेर हड्डियां का अकुलाया क्यों सहसा उसने मुँह खोला।
अब दुर्गों की बुनियादों में दबे अस्थि पंजर चिल्लाते,
प्रलय-प्रलय शङ्कर विध्वंस ! प्रलय-प्रलय शङ्कर बमभोला।

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास और प्रतिपादन हो रहा है। और भी कितने ही कवि आज जनता की चीज़ लिखने लगे हैं। आज उनकी कल्पना आकाश का उड़ना छोड़कर दीन हीन जनों के बीच खेतों खलिहानों में बिचर रही हैं। सुमित्रानन्द पन्त भी आज इस ओर प्रवृत हैं। उनकी "युगान्त" 'युगवाणी' आदि पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस प्रवाह को देखकर आशा होने लगी है कि हिन्दी भी राष्ट्रीय कवि उत्पन्न करेगी जो देश भर में अपनी वीर वाणी से क्रांति का संदेश घर-घर में पहुँचा दे। (सम्पादक)

कविता के जीवन तत्व

"poetry should be simple, sensuous and passionate'
—Milton.

कविता सरल एन्द्रिय तथा भावमय होनी चाहिये। कविता सरल हुए विना जीवन-व्यापिनी नहीं हो सकती। जीवन के श्रेष्ठतम तत्व सरल हैं। इसलिये सरल कविता ही जीवन के तत्वों से मेल खा सकती है और जीवन की संगिनी बन सकती है। कविता यदि सरल न होगी तो वर्णित जीवन तत्व बहुत कम लोग समझ सकेंगे। जो कविता जीवन-तत्वों को सरल से सरल ढंग में प्रगट नहीं कर सकती, वह कभी

विश्व जननी नहीं कहला सकती। संसार के जितने भी श्रेष्ठ कवि हैं, जीवन-तत्वों को सरल से सरल और मधुर ढंग से कविता द्वारा प्रकट करते हैं। तुलसी, सूर इसीलिये भारतीयों के हृदय-हार बन गये कि उनकी कवितायें सरल हैं। वे जीवन की सरलता को मधुर से मधुर ढंग मे कहना जानते हैं। राम-लक्ष्मण सीता बन मार्ग में जा रहे हैं। सरल मूर्तियां ग्राम-वधूटियां सीता से राम का परिचय पूछती हैं। सीता कितने मिठास और सरल पन से उत्तर देती हैं।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नाम लषन लघु देवर मोरे।
बहुरि वदन-बिधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितई भौंह कर बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयनि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैंननि।

सरलता, सुषमा, सौंदर्य, मधुरता और लज्जा सभी एकत्र हैं। इस सरलता में कितना रस है, कितना आनन्द है, कितनी सुगन्धि है, इसे सरल आत्मा वाले ही अनुभव कर सकते हैं।

मैया मोरी कबहुं बढ़ेगी चोटी।
इतने दिवस मोहिं दूध पिवत भये यह अबहुं है छोटी।
तू तो कहती, ज्यों वलिकी वेणी हुई है लाम्बी मोटी।
ओछत, गुहत, नहावत, पोंछत, नागन सी भुंई लोटी।

× × ×

मैया मैं न चरै हो गाय।
सिगरे ग्वाल, घिरावत मों सों, मेरे पैर पिराय।
जो न पत्याहि पूंछ वलदाउहिं अपनी सोंह दिवाय!

क्या बाल-लीला या बाल-चातुरी का इससे भी अधिक सरल वर्णन किया जा सकता है। सूर ने निश्चय ही यहां वात्सल्य की धारा वहा दी है। यह धारा कभी सूखने वाली नहीं और उसमें युग २ तक सहस्रों मातायें तथा पितृगण स्नान करते रहेंगे। दूध पीकर बालक कृष्ण का अपनी चोटी बढ़ाना, अपने 'पैर पिराने' की बात बलदाऊ से

पुछवाना और अपनी सौंह दिला कर—बाल-सारल्य के अद्वितीय उदाहरण हैं।

कविता का दूसरा गुण, जिससे कोई रचना अमर हो सकती है, एन्द्रियता या वास्तविकता है। कहने का साधन, अपील करने का साधन और सुनने या ग्रहण करने का साधन इन्द्रियाँ हैं। यदि कविता में एन्द्रियता या वास्तविकता न होगी तो वह मनुष्य की अपनी वस्तु नहीं हो सकती। यदि कविता में मानव की वासनाओं, आकांक्षाओं और अभिलाषाओं का सच्चा वर्णन न किया गया तो वह कभी भी मानव के हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। वह आदर्श भले ही हो, वास्तविकता नहीं। वही कविता अमर और विश्व के रसिकों की हृदय-हार बनती है जिसमें एन्द्रियता रहती है। आज कालीदास, गेटे, शेक्सपीयर सभी अमर हैं और अमर है उनकी कविता। निर्गुणवादी और दार्शनिक होते हुए भी कबीर की कविता में एन्द्रियता है।

नैनों की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय।
आँखियाँ तो झाईं पड़ीं, पंथ निहार निहार।
जी हड़िया छाला पड़ा, नाम पुकार पुकार।

—कबीर।

रैण अंधेरी बिरह घेरी तारा गिणत निसि जात।
मार कटारी मैं मरूं रो करूंगी अपघात।
आऊं आऊं कर गया सांवरा, कर गया कौल अनेक।
गिनते २ घिस गई उँगली, घिस गई उँगली की रेख।

—मीरा

कबीर का मोक्ष और मीरा का प्रेम एन्द्रिय है—सविषय है। यद्यपि इसमें सांसारिकता की बू नहीं है, फिर भी कविता को जीवित रहने के लिए कविता में एन्द्रियता आना ही अनिवार्य हो गया। हृदय जब प्रेम में पागल हो तो प्रेम की एन्द्रिय भावना को कहाँ छोड़ा जाय।

आज न गेटे है, न उसका Faust और न Margaret है. पर प्रेम की वह पीर आज भी वैसे ही गूंज रही है जो कभी मार्गरेट के हृदय में उठी थी—

And kiss his mouth,
to heart's desire,
and on his kisses
at last expire.

गेटे, उसका फ़ास्ट और मार्गरेट अमर हैं और सदा रहेंगे। राम हमारे देवता भले ही न हों, पर सखा अवश्य हैं। उनके चरित्र में अनिवार्य और पावन एन्द्रिगता अवश्य है। सीता हरण हो जाने पर वह पागल वियोगी के समान ही सिसक पड़ते हैं—

लक्ष्मण समझाए बहु भाँती।
पूंछत चले लता तरू पांती।
हे खग-मृग हेमधुकर खेनी।
क्या देखी सीता मृग नैनी।

इस स्थल पर कौन ऐसा होगा जिसके पास हृदय है, वह सिसक न पड़े। सीता अशोक बन में हैं। राम की स्मृति उन्हें पागल बना देती है और सीता के करुण उच्छ्वासों से अम्बर कांपने लगता है।

कह सीता विधि भा प्रतिकूला।
मिलहिं न पावक मिटहिं न सूला।
देखियत प्रगट गगन अंगारा।
अवनि न आवहिं एकउ तारा।
पावक मय ससि स्रवत न आगी।
मनहुं जान मोहि हत भागी।
सुनहुं विनय मम विटप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका।

यह तुलसीदास जी की लोकोत्तर एन्द्रियता है। यदि वासना चित्रित करने-एन्द्रियता के अंकन में अश्लीलता आई तो वह सफल कलाकार नहीं। वह चित्रण श्रेयकर नहीं हो सकता। तुलसी की एन्द्रियता में यही विशेषता है। भ्रमर गीत में गोप-बालाओं की वियोग दशा का सूर ने जो सफलता और सुन्दरता मे चित्रण किया है, वह भी अपनी तरह का एक ही है। उसमें गोपियों की मिलन-वासना निराशा और उद्दाम एन्द्रियता का मन मोहक अङ्कन है।

कविता का तीसरा गुण है भावमयता। कविता में मानस-हृदय के वास्तविक भावों-राग विराग, ईर्ष्या, द्वेष, मद मत्सर आदि का चित्रण यदि कवि नहीं कर सकता तो उसकी कविता मानव-हृदय का वास्तविक चित्र नहीं हो सकती और वह विश्व जननी नहीं कही जा सकती। आत्मा की अन्तस्तली के संघर्ष का सरल चित्रण करना विश्व कवियों का मुख्य कर्म है। इस दिशा में शेक्सपियर का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। जर्मनी का गेटे भी Faust में पर्याप्त सफल हुआ है। भावों का उत्थान पतन, अन्तर-द्वन्द्व, मानस संघर्ष का चित्रण-तुलसीदास ने भी सफलता से किया है।

राम को राज तिलक होने वाला है। कैकेई मंथरा द्वारा यह सम्वाद सुनकर कहती है:—

राम तिलक जो सांचेउ काली,
देऊँ मांगु मन भावन आली।

पर वही कैकेयी स्वयं अपने द्वारा ही उल्का-पात करती है और दशरथ से मांगती है—

सुनहुं प्रान प्रिय भावत जी का।
देहुँ एक वर भरतहिं टीका।
तापस वेष विशेष उदासी।
चौदह वरष राम बनवासी।

राजा पर वज्र-पात होता है। उसके हृदय पर क्या बीती होगी, इसकी कल्पना कौन कर सकता है। वह बहुत समझाता है—

राम भरत मोर दोइ आँखीं ।
सत्य कहूँ करि संकर साखीं ।

पर कौन सुनता है। राम बन चले जाते हैं और दशरथ महा प्रस्थान कर जाते हैं।

उस भरत के हृदय की दशा की कल्पना कीजिये, जो राम के चरणों का दास था। भरत का हृदय तड़प उठता है और दहाड़ मार कर कह उठता है।

जो पै कुरुचि रही अति तोही।
जनमत काहे न मारेसि मोही।

जिस कैकेई ने राम को बन भेजा है, वह पश्चाताप की भट्टी में कैसी जल रही है—

थूके मुझपर संसार भले ही थूके ।
जो कहना चाहे, कहे, न कोई चूके ।
क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी ।
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।
जल पंजरगत मन, अरे अभागे !
ये ज्वलित भाव थे प्रथम तुझी में जागे ।
—साकेत ।

जो कविता विश्व-साहित्य में स्थान पा सकती है, उसमें कविता के तीनों गुण—सरलता, भावमयता, एन्द्रियता—पूर्ण रूप से पाये जाते हैं।

(सम्पादक)

—:—

खड़ी बोली का विकास

मुग़लों के अन्तिम काल में, आगरा, मेरठ, दिल्ली, मुरादाबाद के आस-पास बोली जाने वाली 'बोली' का खासा प्रचार होगया था। अंगरेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् इस बोली का प्रचार और भी

बढ़ गया। अंगरेजी राज्य की स्थापना हो जाने पर गद्य के लिये एक भाषा की आवश्यकता पड़ी और इसी बोली को यह प्रतिष्ठा दी गई। यही भाषा खड़ी बोली के नाम से आज देश पर शासन कर रही है और भारत की राष्ट्र भाषा मानी जा चुकी है। कुछ लोगों का विचार था कि यह भाषा, जो लल्लू लाल ने "लाल चन्द्रिका" में लिखी है, नई घड़ी हुई भाषा है। डा० ग्रियरसन जैसे भाषा-तत्त्वज्ञानी ने भी इसको घड़ंत बताया, पर हम देखते हैं कि यह भाषा खड़ी बोली अत्यन्त प्राचीन है। हाँ, पद्य में ब्रज भाषा की प्रतिष्ठा हो जाने से इसका अधिक विकास नहीं हो सका था।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरी ने अपने व्याकरण में अपभ्रंशों के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें खड़ी बोली के रूप भी पाये जाते हैं। वैसे तो खड़ी बोली की अनेक विशेषताएं हैं, पर मोटे तौर पर इसकी आकारान्त की ओर प्रवृति, इसे ब्रज भाषा से अलग करती है।

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जे जन्तु वयंसि अह जइ भग्गा घरु एंतु।

उपरोक्त उदाहरणों में भल्ला, हुआ, मारिया, महारा, भग्गा, आदि शब्दों से खड़ी बोली का आभास मिलता है। इनकी व्याकरण में दिये गये अनेक उदाहरण इनसे पहले के कवियों के हैं। ऐसी अवस्था में इनका समय बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व ही समझना चाहिये।

हिन्दी की सर्व प्रथम पुस्तक 'वीसल देव रासो' मानी जाती है। इसका रचना-काल १२१२ विक्रमी है। इस पुस्तक की भाषा ब्रज भाषा से प्रभावित "डिंगल" है, पर इसमें भी खड़ी बोली के शब्दों के रूप मिलते हैं।

"मोती की आशा किया। दी धाता जी उत्ति मठाइ। चित्त फाट्या मन उचट्टया।" आदि उदाहरणों से खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृति का पता चलता है। मराया, पहूँचा, परवाल्या, आव्या आदि रूप भी प्रमाणित करते हैं कि खड़ी बोली भी किसी न किसी

रूप में विकसित हो रही थी।

इसके पश्चात् अमीर खुसरो–१३वीं शताब्दी–की भाषा तो आजकल की खड़ी बोली के बहुत कुछ निकट है।

आदि कटै तो सबको पारै।
मध्य कटै तो सबको मारै।
अन्त कटै तो सबको मीठा।
कह खुसरो मैं आँखों दीठा।

खुसरो की कविता देखकर हम कल्पना कर सकते हैं कि तेरहवीं शताब्दी में खड़ी बोली कितनी विकसित हो रही थी। इसके पश्चात् १५वीं शताब्दी में कबीर साहब आते हैं। इनकी कविता में भी खड़ी बोली के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। 'काशी नागरी प्रचारिणी-सभा' को कबीर साहब की एक हस्तलिखित रचना प्राप्त हुई है। इसका समय १५६१ विक्रमी है।

नां कुछ किया नां करि सक्यां, नां करने जोग सरीर।
जो कुछ किया सो हरि किया, ताथैं भया कबीर।
कबिरा सोइ सराहिये, लड़े धनी के हेत।
पुर्जा पुर्जा होइ रहे, तउ नां छाँड़े खेत।

कबीर साहब के बाद नानक, दादू आदि सन्त कवियों की वाणियों में खड़ी बोली पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। भूषण ने भी "शिवा बावनी" में खड़ी बोली के शब्द प्रयोग किये हैं।

अब कहाँ पानी मुक्तों में पाती हैं।
खुदा की कसम खाई है।
अफज़ल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

सम्वत् १८०२ के आस पास के रघुनाथ, सूदन, ग्वाल आदि कवियों की कविता में भी खड़ी बोली के वास्तविक निर्माण का समय आता है। फोर्ट विलियम कालिज के अध्यक्ष जानगिल क्राइस्ट साहब ने लल्लू लाल जी और सदल मिश्र से हिन्दी गद्य की पुस्तकें तैयार कराईं।

लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तक लिखी। इससे पहले मुन्शी इन्शा अल्लाखां 'रानी केतकी की कहानी' और सदासुख लाल 'सुखसागर' प्रस्तुत कर चुके थे।

'प्रेमसागर' की भाषा में खड़ी बोली की आकारांत प्रवृति ही आने पाई है। इसकी भाषा मथुरा के आसपास बोली जाने वाली कथावाचकों की भाषा ही है। पूर्वकालिक क्रियाओं के रूप, संज्ञाओं के बहुवचन, संकेत वाचक सर्वनाम आदि ब्रज भाषा के समान है। ब्रज भाषा जैसी ही मधुरता, लय और ध्वनि हैं। हाँ, प्रेमसागर की भाषा से खड़ी बोली को एक गद्य काव्य की शैली अवश्य मिली है।

सदल मिश्र की भाषा पर बिहारी प्रभाव है। ब्रजभाषा से स्वतंत्र हैं। और इसमें विदेशी शब्दों का इतना बहिष्कार नहीं किया गया, जितना लल्लू लाल जी ने किया है। सदल मिश्र की भाषा लल्लू लाल जी की अपेक्षा खड़ी बोली के निकट अधिक है और उन्होंने अपनी भाषा को 'खड़ी बोली' ही लिखा है।

सदासुख लाल की भाषा पाण्डित्य पूर्ण है। इसमें दूसरे शब्दों को उदारता पूर्वक कहीं-कहीं स्थान दिया गया है। हिन्दी गद्य के प्रारंभिक चारों लेखकों में इन्शा अल्ला की भाषा सबसे प्रौढ़, जानदार, चुलबुली और कलापूर्ण है। इनकी भाषा में यौवन का उल्लास है, सजीवता तथा चंचलता है। क्रिया पदों पर ब्रज भाषा की छाप अवश्य मिलती है। इन्शा की भाषा में घरू भाषा का-सा आनन्द मिलता है।

"कुछ दाल में काला है। यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। सिर मुंडाते ही ओले पड़े थे। अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूं। इस बात पर पानी डालदो।"

ऊपर के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि 'इन्शा' इन चारों लेखकों में आधुनिक खड़ी बोली के गद्य की प्रतिष्ठा करने वालों में सर्व प्रथम है।

१८६० विक्रमी से १६१४ विक्रमी गदर के समय तक-गद्य का क्षेत्र-खाली रहा और खड़ी बोली का विकास रुक सा गया।

इसी समय के आस पास ईसाई प्रचारकों ने अपने प्रचार के लिये खड़ी बोली में पुस्तकें प्रकाशित करानी प्रारम्भ कीं। १८६० विक्रमी में श्री रामपुर में इन्होंने प्रेस स्थापित किया और १६०० में बाइबिल का अनुवाद छपवाया। खड़ी बोली के गद्य के प्रचार में ईसाईयों की सेवायें भी नहीं भुलाई जा सकती हैं। इनकी भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बहिष्कार रहता था और संस्कृत के शब्द या बोलचाल के शब्द ही अधिकतर होते थे। इनकी भाषा ऐसी रहती थी जिसके द्वारा इनके धर्म का प्रचार हो सके। इन लोगों ने पाठ्य पुस्तकें भी तैयार कराईं। भूगोल, इतिहास, रसायन आदि की पुस्तकें भी लिखी गईं। भारत में बहुत से स्थानों पर इन्होंने प्रकाशन-कार्य किया है।

जब देश निद्रा में ऊँघ रहा था और ईसाई लोग अपने धर्म के प्रचार में ज़ोरों से तत्पर थे, स्वामी दयानंद का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामीजी ने पुनः वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा और रक्षा का प्रारम्भ किया। स्थान २ पर शास्त्रार्थ होने लगे। और हिन्दी में एक जोश भरी, प्रौढ़, जानदार तथा व्यंगपूर्ण शैली का जन्म हुआ। स्वामी जी ने अपने समस्त ग्रन्थ हिन्दी में लिखे और आर्यों को हिन्दी-आर्य-भाषा पढ़ना अनिवार्य ठहराया। स्वामी जी की भाषा गम्भीर, संगठित और संस्कृत मयी है। आपकी कृपा से पंजाब जैसे उर्दू के गढ़ में भी हिन्दी का प्रचार हो चला। धार्मिक क्षेत्र में-पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी जी का भी नाम लिया जा सकता है। आपने भी पंजाब में हिन्दी का बहुत प्रचार किया और कितनी ही पुस्तकें लिखीं।

काशी के राजा शिव प्रशाद सितारे हिन्द और पंजाब के बाबू नवीन चन्द्रराय ने भी साहित्य क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। राजा साहब शिक्षा विभाग में थे। इन्होंने बहुत सी पाठ्य-पुस्तकें लिखीं उनकी प्रतिष्ठा शिक्षा विभाग में कराई। पर राजा साहब धीरे २ नागरी लिपि में कोरी उर्दू लिखने लगे और हिन्दी उर्दू के बीच पुल बनाने के प्रयत्न में स्वयं अपनी भाषा को ही उर्दू धारा में मिला दिया। भाषा के सिद्धान्तों पर-भारतेन्दु से इनका संघर्ष हुआ और अन्त में भारतेन्दु जी की विजय हुई।

नवीन चन्द्र राय ने पंजाब में कार्य किया और कितनी ही पुस्तकें लिखीं तथा लिखाईं। आप राजा साहब की भाषा के पक्षपाती नहीं थे। आपकी भाषा शुद्ध प्रौढ़ और गम्भीर थी। आपने न्याय वेदान्त पर पुस्तकें लिखीं-लिखाईं। सम्वत् १६१६ में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला' का अनुवाद प्रकाशित किया। इसकी भाषा में शुद्धता का पूरा पूरा विचार रक्खा गया और विदेशी शब्दों का बहिष्कार सा किया गया। फिर भी राजा साहब संस्कृत की तत्समता की ओर नहीं झुके हैं। भाषा में घरूपन है और ब्रज भाषा का भी प्रभाव लक्षित होता है। यह पुस्तक इंगलैंड में भी छपी और १६३२ में सिविल सर्विस की पाठ्य-पुस्तकों में आगई।

अभी हिन्दी के किसी रूप की प्रतिष्ठा के प्रस्ताव हो ही रहे थे कि भारतेन्दु का उदय हुआ। वे हिन्दी-लेखकों के अगुआ बने और १६२५ में "कवि वचन-सुधा" नामक पत्रिका प्रकाशित की। हरिश्चन्द्र ने भाषा के सम्बन्ध में उठा हुआ विवाद शांत किया और भाषा के सम्बन्ध में कुछ सिद्धांत स्थिर होगये। भारतेन्दु की भाषा बहुत मधुर, चुस्त, संगठित, विकसित और सरस है। आप अपनी भाषा पर विदेशी प्रभाव तनिक भी नहीं आने देते थे। सितारे हिन्द जी की भाषा के साथ चलने वाला अब कोई न रहा। आपने अपने नाटकों, निबन्धों और प्रहसनों से खड़ी बोली का बहुत प्रचार किया।

परन्तु अभी तक खड़ी बोली केवल गद्य की भाषा थी और पद्य-रचना अभी तक ब्रज भाषा में होती थी। भारतेन्दु भी पद्यों को ब्रज भाषा में ही लिखते थे। गद्य-विकास के प्रारम्भिक काल में यही क्रम रहा। मध्य काल के प्रारम्भ में यह बात खटकने लगी और सरस्वती के प्रकाशन होने तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद, खड़ी बोली के लिये आन्दोलन और भी ज़ोर पकड़ता गया। आचार्य द्विवेदी जी ने खड़ी बोली का समर्थन किया और हिन्दी को कितने ही सुलेखक तथा उत्कृष्ट कवि प्रदान किये। दोनों के पक्षपातियों में बहुत समय तक वाद-विवाद चला, अन्त में खड़ी बोली की विजय हुई। आज उसी खड़ी बोली का प्रसाद जैसे सर्वतोमुखी कलाकार, प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार जैसे उच्च कोटि के उपन्यासकार और कहानी लेखक,

मैथिली शरण, निराला, पन्त जैसे महा कवि और रामचन्द्र शुक्ल तथा पद्मसिंह शर्मा जैसे उद्‌भट समालोचक उत्पन्न करने का गर्व है।

(सम्पादक)

एकांकी के सम्बन्ध में

आज कल मानव-जीवन अत्यन्त व्यस्त तथा संघर्षमय है। मनुष्य को जीवन के लिये कितनी ही विरोधी परिस्थियों से युद्ध करना पड़ता है। इतना व्यस्त और जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने में प्रयत्नशील रहने के कारण मनुष्य और कामों के लिये बहुत थोड़ा समय पाता हैं। कार्य बहुत, आवश्यकताएँ अगणित और जीवन छोटा—इसलिये आजकल हरेक बात संक्षिप्त में चाही जाने लगी, काट छाँट या संक्षिप्तता मानो इस युग की प्रवृति है। साहित्य के प्रत्येक अंक पर इस युग प्रवृति का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। लम्बी रचनायें पढ़ने के लिये कौन समय निकाले। महाकाव्य और प्रवन्ध काव्य का रूप गीतों ने लिया, उपन्यास के स्थान पर लघु कथाओं की बाढ़ बढ़ गई और वृहद नाटकों अनेकांकी या नाटकों-के स्थान पर एकांकी प्रिय लगने लगे।

इस लेख में एकांकी नाटक की विशेषताओं, लेखन कला और प्रियता पर बहुत संक्षिप्त में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

'एकांकी' के विशेषण से ही मालूम हो जाता है कि एक अंक में ही नाटक की सब विशेषताओं — कहानी, चरित्र, कथोपकथन, कार्य—व्यापार - प्रभावादि का पूर्ण रूप से विकास हो जाना ही एकांकी नाटक की सफलता है। इसके अतिरिक्त भी इसमें अपनी अलग विशेषतायें हैं।

इसमें एक ही परिस्थिति, बल्कि किसी एक ही भावमय घटना का विकास होता है। कथानक अत्यन्त लघु होना चाहिये। इसमें केवल एक ही कथा होती है। वह जीवन के लम्बे समय की नहीं, बहुत थोड़े

समय की। अब तो ऐसे एकांकी भी लिखे जाने लगे हैं जिनमें एक दिन, बल्कि चार पाँच घंटे की कथा रहती है और उसका पूर्ण विकास होता है। एक ही परिस्थिति या घटना के केन्द्र-विन्दु के चारों ओर सब चरित्र घूमते हैं। और उसी परिस्थिति पर जीवन अंश पर पूर्ण प्रकाश डालना एकांकी की सफलता है।

एकांकी नाटक में कहानी की लम्बी भूमिका नहीं होती, पर्दा उठा कि तुरन्त कहानी आरम्भ होगई, या बहुत ही संक्षिप्त में कहानी सामने आजाती है। अनेकांकी के समान सहायक कथा-धारा इसमें नहीं होती है। कहानी अपने में ही पूर्ण हो जानी चाहिये। एकांकी देखने के बाद दर्शक यह आशा और इच्छा न रखें कि कहानी और आगे चलती। एफ० ओ० फ्रैंसिस का "Birds of a feather थोमस हार्डी का Trafaigar, पं० उदयशंकर भट्ट का 'वर-निर्वाचन' श्री रामकुमार वर्मा का 'दस मिनट'–एकांकी एक परिस्थिति के चित्रण में अत्यन्त सफल हैं।

एकांकी में कम से कम चरित्रों को स्थान दिया जाता है। ३-४ पात्र एकांकी के लिये पर्याप्त हैं। अधिक पात्रों का जमघट एकांकी की असफलता है। रही चरित्र चित्रण की बात, इसमें चरित्र के किसी पहलू पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। पूर्ण चरित्र की तो बात ही क्या, लम्बे जीवन की स्थिति भी इस समय चित्रित नहीं की जा सकती है। जिस परिस्थिति में एकांकी के पात्र कार्य कर रहे हैं, परिस्थिति से उत्पन्न चरित्र के गुण-दोष एकांकी में अङ्कित होंगे। सभी चरित्र कुशलता पूर्वक कहानी को विकास की ओर ले जाने वाले होने चाहियें। ३-४ चरित्रों में से एक मुख्य होगा और शेष उसके विकास और उसके चरित्र पर प्रकाश डालने वाले होंगे। यदि चरित्रों से अपना काम तनिक भी शिथिलता से हुआ तो एकांकी का रस बिगड़ जायेगा।

इस दशा में सीन ओ० केसी की रचना 'एफ०ओ० फ्रैंसिस' का Birds of a feather श्री उदयशङ्कर भट्ट के 'वर-निर्वाचन' और 'उन्नीस सौ पैंतीस', श्री सुदर्शन का 'राजपूत की हार' भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक' पात्रों की कमी और उनके सुन्दर चरित्र-चित्रण और विकास की दृष्टि से अच्छे उदाहरण हैं।

कथोपकथन अरुचिकर या अनुपयुक्त होना चाहिये। एक-एक शब्द कहानी को विकसित करने चरित्रों पर प्रकाश डालने, नाटक में कार्य-व्यापार उत्पन्न करने और नाटक को प्रभावशाली बनाने वाला होना चाहिये। वार्तालाप लम्बा होना तो इसमें बड़ा भारी दोष है। अनेकांकी नाटक में तो कहीं कहीं लम्बा कथोपकथन अरुचिकर या अनुपयुक्त नहीं भी होता। इधर उधर का या घुमा फिरा कर भी वह चल सकता है। पर एकांकी में इतना स्थान नहीं है और न इतने समय की आवश्यकता है। लेखक को इसमें बड़े संयम तथा प्रतिभा से लेना पड़ता है।

एकांकी में वही वात लेखक कह सकता है जो उसे कहनी अनिवार्य है। जो वात वह कह सकता है, वह कहने का अधिकार उसे एकांकी में नहीं। नये तुले शब्दों, प्रभावपूर्ण वाक्यों, युक्तिपूर्ण तथा सुगठित भापा में लेखक एकांकी नाटक का कथोपकथन रखता है। क्ली में सडेन के Shivering Shooke, श्री रामकुमार वर्मा के 'दस मिनट', भुवनेश्वर के 'स्ट्राइक' का कथोपकथन उपयुक्त चुस्त और छोटा होने से बड़ा मनमोहक है।

एकांकी नाटक अनेकांकी से केवल लम्बाई, पात्रों की कम संख्या, समय की किफ़ायत में ही भिन्न नहीं होता, इसकी रचना, ध्येय, विकास का ढंग सभी भिन्न हैं। इसका अनेकांकी से कुछ भी संबंध नहीं। यह अपने में स्वाधीन और पूर्ण है। स्थान, समय और कार्य-व्यापार की एकता एकांकी की विशेपता है। अनेकांकी में वह इतने पूर्ण और सफल रूप में नहीं पाई जाती।

एकांकी नाटक अनेकांकी का कोई टुकड़ा नहीं है, वह स्वयं अपने में पूर्ण है। हाँ, दृश्य इसमें भी कई हो सकते हैं। ध्येय तथा विकास की ओर इसका ढंग सीधा शीघ्रता पूर्ण है। इसके पढ़ने में अधिक से अधिक ३० मिनट लगने चाहियें। इससे अधिक समय लेने वाला एकांकी पाठक का मनोरंजन नहीं कर सकता। सेकीं का The Death trap, श्री उदयशङ्कर भट्ट का 'धर्म' और 'एक ही कत्र

में' श्री सुदर्शन का 'राजपूत की हार' भगवतीचरण वर्मा का 'सबसे बड़ा आदमी' अच्छी रचनायें हैं।

एक बात यह भी है कि एकांकी के अभिनय में भी थोड़ा समय लगना चाहिये। अधिक से अधिक एक घंटा काफ़ी समय है। अधिक समय तक बैठने में दर्शक उकता जायेंगे और उनको आनन्द नहीं मिल सकेगा। अभिनय बड़ा फुर्तीला और भावपूर्ण होना चाहिये। तानक सी भी शिथिलता एकांकी का आनन्द मिट्टी में मिला देगी। पर्दा भी शीघ्र-शीघ्र बदलना चाहिए। मशीन के पुर्जों के समान कार्य करने वाले पात्र, शीघ्रता से बदलने वाले दृश्य, उपयुक्त भाव-भंगी और चुस्ती तथा अनोखी कार्य शीलता अभिनय की जान है।

एकांकी की कुछ अपनी विशेषतायें हैं और कुछ समय की प्रवृति और परिस्थिति, जिनके कारण आजकल इसकी लोक प्रियता बढ़ रही है इसके अभिनय में थोड़ा समय लगता है। दर्शक लोग बैठकर उकताते नहीं और पात्र भी इतने थोड़े समय में नहीं थकते। उनके सभी अङ्ग ठीक-ठीक काम करते हैं। इसकी दृश्यावलि बहुत सरल होती है और इसको बार-बार बदलना नहीं पड़ता है। एकाकी के निर्देपक तथा अभिनेताओं को भी बड़ी सरलता होती है। इसके कथोपकथन छोटे छोटे होते हैं। उनका स्मरण करना बड़ा सरल है और बहुत दिन इसकी तैयारी में नहीं लगते। दर्शक पर इसका प्रभाव भी शीत्र पड़ता है। बहुत जल्दी ही वह नाटक के ध्येय आदर्श और विकास पर पहुँच जाता है।

अन्त में इतना कह दें कि लेखक को एकांकी में भरती करने का तनिक भी अधिकार नहीं है। नाटक का प्रत्येक शब्द, कार्य और चरित्र कहानी का प्रवाह तीव्र गतिमय और सीधा होना चाहिये। एकांकी में समय, स्थान और कार्य व्यापार की एकता का ध्यान रखना भी लेखक का मुख्य कर्तव्य है।

आनन्द की बात है कि हिन्दी में भी इस ओर पग बढ़ाया गया है और कितने ही सुन्दर एकांकी लिखे गये हैं। भविष्य में हिन्दी में और भी सुन्दर और कला पूर्ण एकांकी नाटकों के प्रकाशन की आशा करके लेख समाप्त किया जाता है। (सम्पादक)

हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसका काल विभाजन।

मानव जाति के जीवन की व्याख्या को ही साहित्य की उपाधि दी जाती है। मानव जाति के मनोवेग परिस्थिति वंश परिवर्तित होते रहते हैं। इन्हीं परिस्थितियों के अनुसार साहित्य भी अपना चोला बदल डालता है। इसका इतिहास लगभग १००० वर्ष पूर्व का है। इसी युग के मध्य में जीवन के मनोवेगों में अगिणत परिवर्तन आये हैं। परिस्थितियों के अनुसार अध्ययन करके पं० रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को निम्न चार भागों में विभक्त किया है:—

१—वीर गाथा काल (आदि काल) सं० १०१५ से १३७५ तक,

२—भक्ति काल (पूर्व मध्य काल) सं० १३७५ से १७०० तक,

३—रीति काल (उत्तर मध्य काल) सं० १७०० से १६०० तक,

४—आधुनिक काल (गद्य काल) सं० १६०० से अब तक।

शुक्ल जी ने कालों का आधारभूत नियम ऐसी पद्धति पर निर्वाचित किया है। इनमें काव्य प्रकरणों एवं काव्यांगों का एक रस निरूपण है। इन्होंने मनोवैज्ञानिक आधार पर विकसित एक ही काव्य प्रणेताओं का मूल भूत श्रोत एक ही काल में रखा है। युग की शुभाकांक्षाओं को लेकर जो काव्य प्रेरणा विकसित हुई, उसकी सरसधारा को कालों में विभाजित किया गया है।

इन कालों के आरम्भ से पूर्व अपभ्रंश का युग था। बौद्ध राष्ट्र के विनष्ट हो जाने पर भांति भांति के मतांतरों एवं जैन बौद्ध इत्यादि आचार्यों की इन्द्रिय लोलुपता का साहित्य बिखरा सा पड़ा था। युग के परिवर्तन ने साहित्य को भी परिवर्तित कर डाला है। उस समय में जैनाचार्य मेरुतुङ्ग, शारंगधर, कण्डया, विद्यापति, देवसैन जैन इत्यादि कवियों की रचनाएँ अमर हैं। हेमचन्द्र जी उस समय के सब लेखकों में विद्वान् थे।

यह वह युग था जबकि भारतीय वैभव से आकर्षित लालची कुत्ते आँधी की भाँति इसकी ओर अग्रसर होरहे थे और भारतीय नरेश छोटे छोटे केन्द्रीय शासनों पर बैठे हुए परस्पर युद्ध की योजना करते रहते थे। उस समय क्षत्रिय ललनाओं के विवाह भी उनके संरक्षकों एवं अन्य विवाहेच्छुकों से युद्ध के बिना सम्पन्न न हो पाते थे। ऐसे अशान्त वातावरण में साहित्य का निर्माण तथा निर्मित साहित्य की रक्षा असम्भव सी थी। अतएव इस समय से १५० वर्ष पूर्व की रचनाएँ अधोलिखित रूप में मिलती हैं:—

१. विजयपाल रासो २. हम्मीर रासो ३. कीर्तिलता ४. कीर्ति-पताका ५. खुमान रासो ६. वीसलदेव रासो ७. पृथ्वीराज रासो ८. जयचन्द्र प्रकाश ९. जयमंयक जसचन्द्रिका १०. परमाल रासो ११. खुसरो की पहेलियाँ १२. विद्यापति की पदावलि। उपरोक्त ग्रन्थों में अन्तिम दो ग्रन्थों को छोड़कर शेष सब वीरगाथात्मक हैं। इन वीर गाथाओं की अधिकता के कारण ही इस काल का नाम वीरगाथा काल पड़ा। यह रचनायें भाटों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरताओं की गाथा को लेकर लिखी हैं। उस समय चन्द्र, जगनिक, केदार भट्ट, नरपति नाल्ह, इत्यादि कवियों का नाम उल्लेखनीय है। जिनके करों में समयानुसार लेखनी और खड्ग दोनों ही विद्यमान थीं।

इस युग के कवियों में पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द्रवरदाई का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये हिन्दी के प्रथम कवि तथा पृथ्वीराज चौहान के मन्त्री, सामन्त और ६ भाषाओं के पण्डित राज कवि थे। ये दोनों एक ही दिन पैदा हुए और एक ही दिन इन्होंने संसार से कूच किया। इनकी रचित 'पृथ्वीराज रासो' ६९ सर्गों में समाप्त हुई है। इसमें पृथ्वीराज की साधारण से साधारण घटना का वर्णन है। इस ग्रन्थ की भाषा, भाव तथा समय के अनुसार लोग इसको संदिग्ध मानते हैं। वैसे यह पुस्तक बड़ी सरल तथा पठनीय है।

भक्तिकाल

सम्वत् १३७५ तक अनेकों प्रकार से विरोध करने पर भी मुग़ल

राज्य भारत में दूर दूर तक विस्तृत होचुका था। इस राज्य की स्थापना से अब क्षत्रियों की शक्ति लुप्तप्राय सी हो गई थी। जो क्षत्रिय बचे थे वह भी अब ऐसी दशा में अपने तथा अपने पूर्वजों की वीर कृतियों की गाथा को बिना लज्जित हुए नहीं सुन सकते थे। ऐसे अशान्त वातावरण में अशान्त हिन्दू जाति के लिये करुणानिधान, दीनोद्धारक, दीनबन्धु परमेश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई चारा न था।

ऐसे समय में रामानन्द तथा बल्भाचार्य ने जनता के भीतर भक्ति रस का स्रोत प्रवाहित किया। कबीर, नानक, सूरदास, तुलसी आदि कवियों ने दुखित जनता को परमेश्वर की ओर आकर्षित किया। भक्ति रस की दो धारायें निर्गुण और सगुण धारा के रूप में मिलती हैं।

निर्गुण धारा के प्रवर्तक कबीरदास जी थे। ये अनपढ़ थे। परन्तु सन्त महात्माओं के सम्पर्क में रहने से इनका ज्ञान अधिक बढ़ गया था। उन पर सूफी कवियों का भी प्रभाव था। इनकी रचनायें १ रमैनी २ सबद ३ साखी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी वाणी का संग्रह 'बीजक' नाम से प्रसिद्ध है। जिसके तीनों भागों का नाम ऊपर लिखा जा चुका है। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा एकता का उपदेश दिया है। इन्होंने मूर्तिपूजा का पूर्णतया खण्डन किया है। ये अपने युग के परिवर्तनकारी महात्मा थे।

प्रेम मार्गी शाखा के कवियों में जायसी का नाम सर्वश्रेष्ठ है। इनका लिखित महाकाव्य 'पद्मावत' के नाम से प्रसिद्ध है। यह काल्पनिक तथा ऐतिहासिक दोनों के समिश्रण से अवधी भाषा में लिखा गया है। इनकी रचना शैली बड़ी मार्मिक है। इसमें चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मिनी के प्रेम का अद्वितीय वर्णन है। वास्तव में इनकी रचना प्रेमगाथाकारों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई है। सगुण धारा में भी दो समुदाय रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति के नाम से हुए हैं। रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी अमर हैं। इनकी प्रतिभा के हेतु ही आज हिन्दी

साहित्य उन्नति रूपी गगन पर चन्द्र बनकर चमक रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने पूर्व प्रचलित सभी काव्य पद्धतियों पर रचनायें की हैं। इन्होंने रामचरित मानस में सारे भारत की स्थिति का चित्र अङ्कित कर दिया है। भक्ति की प्रबल भावना का सहारा लेकर तुलसी ने राम को प्रत्येक भारत के नागरिक का राग बना डाला है। रामचरित मानस पूर्ण महाकाव्य है। साहित्य के सभी सफल काव्यांगों का रूप इनकी रचनाओं में पाया जाता है।

नैराश्य से डूबी हुई हिन्दू जाति ने कृष्ण लीला का सहारा लिया। इस समुदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास जी हुए हैं। इन्होंने ब्रजभाषा में भागवत गीता का विशद गान किया। सुना जाता है कि इन्होंने सवा लाख पदों की रचना की है। परन्तु उपलब्ध अवस्था में केवल ५ या ६ पद हैं।

इन्होंने प्रेम और भक्ति को प्रधान कर श्री कृष्ण की ही उपासना की। सूरदास जी ने वात्सल्य इससे पूर्ण परिस्थिति होकर ही बालकृष्ण का इतना मार्मिक चित्रण किया है। जैसा विश्व साहित्य में किसी भी कवि ने नहीं किया है। शृङ्गार के दोनों पक्षों का वर्णन सूर ने बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित किया है शैशव तथा यौवन का चित्र अंकित करने में तुलसी से भी बढ़कर हैं।

रीति काल

साहित्य के पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाने पर सम्वत् १७०० के पश्चात् हिन्दी साहित्य शास्त्र का निर्माण हुआ। इसके लिखने की भिन्न भिन्न रीतियों का विवेचन करने के कारण ही इस साहित्य शास्त्र को रीति ग्रन्थ कहा जाता है। इनकी प्रचुरता के कारण इस काल का नाम रीति काल पड़ा।

इस काल में साहित्य को पुनः राजदरबारों की शरण लेनी पड़ी। संघर्षों से निश्चित हो जाने के कारण राजदरबारों में इस समय विलासता की लहरें उमंगें ले रहीं थीं। विलासिता तथा ऐश्वर्य की रचनाओं के अतिरिक्त दूसरी रचनाओं के सुनने का अवकाश भी न

था। अतः इस काल के कवियों ने 'नायक नायिका भेद' 'नख शिख वर्णन', 'षडऋतु' 'अष्टयाम' आदि रचनाएँ कीं।

इस समय के प्रमुख कवियों में चिंतामणि, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस काल की रचनाओं में 'बिहारी सतसई' का विशेष स्थान है। काव्यांगों के साथ साथ बिहारी शृङ्गार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनकी भाषा शुद्ध व्रज भाषा है। अलङ्कारों की सुन्दर छटा इनकी रचनाओं में मिलती है।

आधुनिक काल

इस काल में खड़ी बोली के विकास के अतिरिक्त विश्व-साहित्य को स्वतन्त्रता मिली। इस वैज्ञानिक युग में मानव को सुख-दुख तथा आशा और निराशा के शब्दों में ला पटका। साहित्य व्रजभाषा का चोला छोड़कर खड़ी बोली की कुर्ती पहनकर सम्मुख आया। गद्य का साम्राज्य छा गया। इसके निर्माताओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व महावीर प्रसाद द्विवेदी विशेष उल्लेखनीय हैं कहानी, नाटक तथा उपन्यासों का क्षेत्र विकसित हुआ और प्रेमचन्द्र जैसे कहानी लेखक और उपन्यासकार उत्पन्न हुए। पद्य लेखकों में नवीन धारा के प्रमुख कवियों में जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा अधिक प्रसिद्ध हैं। राष्ट्रीय कवियों में सर्वश्रेष्ठ श्री मैथिली शरण गुप्त, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी विशेष प्रसिद्ध हैं।

(सुश्री सुदेश, शरण)

हिन्दी साहित्य में समालोचना

प्राचीन युग में कुछ समय तक काव्य रचना होने के उपरांत उसको परखने के लिये रीति ग्रंथों की रचना आरम्भ हुई। व्यास जी ने अग्नि पुराण में रसों और अलंकारों के प्रारम्भिक विवेचन की तान

छोड़ी। इसके उपरांत ही भरत मुनि ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया और फिर तो ऐसी एक परिपाटी ही चल पड़ी। अनेक रीति ग्रंथों का निर्माण हुआ और रस, अलंकार-छन्द आदि के आधार पर किसी ग्रंथ के गुण-दोष दिखा देना ही समालोचना समझा जाता रहा।

आधुनिक काल—हिन्दी साहित्य–में सर्व प्रथम समालोचना पं० बद्रीनरायण चौधरी 'प्रेमघन' ने लाला श्री निवासदास लिखित 'संयोगिता-स्वयंवर' की थी। इसमें केवल दोष-दर्शन दिखाया गया। इस प्रकार हिन्दी में निन्दात्मक तथा प्रशंसात्मक आलोचना चल पड़ी।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी कालीदास की आलोचना' नामक पुस्तक लिखी और लाला सीताराम बी० ए० द्वारा किये गये कालीदास के ग्रन्थों की आलोचना की। इसमें भाषा के गुण-दोष दिखाये गये हैं। इसके पश्चात् द्विवेदी जी ने 'विक्रमाङ्क देव चरित चर्चा' तथा 'नैषध चरित चर्चा' नामक पुस्तकें लिखीं। इनके द्वारा हिन्दी वालों को संस्कृत साहित्य में प्रचलित विवेचन प्रणाली का परिचय मिला। फिर तो द्विवेदी जी ने समालोचना साहित्य की और भी वृद्धि की। 'सरस्वती' में कितने ही लेख लिखे। जिन में भारतीय तथा अङ्गरेजी कवियों की कृतियों की समालोचना की गई थी। अब समालोचना का रूप पहले से कुछ अधिक विवेचनात्मक हो गया था।

इसके उपरांत मिश्र बंधुओं की 'नवरत्न' नामक पुस्तक निकली। इसमें चन्द से लेकर हरिश्चन्द्र तक नौ कवियों का परिचय और उनके काव्य की विवेचना है। इनके सम्मुख समालोचना के सिद्धान्त न थे, पर फिर भी इनका यह प्रारम्भिक कार्य प्रशंसनीय है। 'नवरत्न' में बिहारी को नीचे गिराकर देव के साथ अनुचित पक्षपात किया गया था। यह बात बड़ी खटकी और एक आन्दोलन ही चल पड़ा। इस झगड़े के परिणाम स्वरूप पं० कृष्ण बिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' तथा ला० भगवानदीन की 'बिहारी और देव' पुस्तकें प्रकाशित

हुईं। ये दोनों ही पक्षपात पूर्ण थीं। इसके उपरांत मिश्र बन्धुओं की 'मिश्र बन्धु विनोद' नामक पुस्तकें सामने आईं। इसमें कवियों का मार्मिक विवेचन है और परिश्रम भी बहुत किया गया है। पर बहुत सी बातें केवल किंवदन्ती के आधार पर हैं, ऐतिहासिक सत्य नहीं। यह भी समालोचना क्षेत्र में प्रारम्भिक, पर पहले से अधिक विवेचना पूर्ण तथा साहित्यकारों की कृतियों की गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न किया।

पं० पद्मसिंह शर्मा ने समालोचना क्षेत्र में नया मार्ग दिखाया। आप कितनी ही भाषाओं के विद्वान् और गम्भीर विवेचक थे। शर्मा जी बिहारी के समर्थक थे। इसी के परिणाम स्वरूप आपने 'बिहारी-सतसई' की भूमिका लिखी। इसने आपको समालोचक शिरोमणि बना दिया। आपने 'आर्य सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के कितने ही पद्यों से बिहारी के दोहों की समानता दिखाते हुए बिहारी की श्रेष्ठता की वकालत की। आपकी विनोदी चुटकियों, फबतियों और मज़ाकिया शैली ने पुस्तक में जान डाल दी यद्यपि कितने ही विद्वान् आपकी शैली को उथली और अगम्भीर कहते हैं, पर बिहारी की रचना के लिए इतनी गम्भीरता और संगदिली की आवश्यकता नहीं। यह बात अवश्य है कि कहीं आपका महफली ढंग—वाहवाह का शोर—खटकने लगता है।

शर्मा जी की शैली इतनी अपनाई गई कि बहुत समय तक दो कवियों की समान भाव वाली रचनायें संग्रह करना ही तुलनात्मक समालोचना समझी जाने लगी।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने समालोचना के लिए भारतीय सिद्धांतों को और भी विस्तृत और व्यापक रूप दिया। आपने हिंदी में एक विवेचना-पूर्ण, गवेषणात्मक, गम्भीर और पक्षपात-हीन समालोचना को जन्म दिया। पर यह सब प्राचीन कवियों के साथ ही रहा। नवीन कवियों के साथ तो आपके हाथों यदि अत्याचार नहीं, तो न्याय भी नहीं हुआ।

शुक्ल जी ने हिन्दी में कई सुन्दर और गम्भीर, सहानुभूति पूर्ण,

पक्षपात हीन और गहन गवेषणापूर्ण समालोचनाएँ लिखी हैं। तुलसीदास, भ्रमरगीत सार और पद्मावत—अखरावट की भूमिका शुक्ल जी के गहन गम्भीर अध्ययन और परिश्रम का परिणाम है। तुलसी के परम भक्त होते हुए भी उसकी कुछ भूलें भी दिखाना और सूर पर उसी भावुकता और पक्षपात हीनता से समालोचना करना शुक्ल जी को बहुत ऊँचा उठा देता है। जायसी को गहन अंधकार से निकालकर प्रकाश में लाना शुक्ल जी का ही काम है। आपकी समीक्षा शैली विवेचना-पूर्ण, मार्मिक और गवेषणात्मक हैं।

इतना होते हुए भी आपकी 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक पक्षपात से रहित नहीं। इसमें कहीं-कहीं आप विरोधी और कटोक्ति पूर्ण होगये हैं। फिर भी शुक्ल जी ने समालोचना क्षेत्र में आदर्श कार्य किया है।

बा० श्यामसुन्दर दास ने साहित्यालोचन नामक पुस्तक लिखकर एक ऐसी पुस्तक के अभाव की पूर्ति की है, जिसमें आलोचना के साधारण सिद्धांत दिये गये हैं। साहित्यालोचन में प्राच्य तथा पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों का समावेश किया गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल है। हरिश्चन्द्र और तुलसी पर लिखी गई आपकी समालोचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। आपकी 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक पुस्तक भी महत्व पूर्ण है। इसमें कवियों की रचनाओं का उस समय की परिस्थिति के समन्वय के साथ प्रशंसनीय विश्लेषण किया गया है। आपकी समालोचना विवेचनात्मक, गम्भीर और सहानुभूति से पूर्ण होती है।

श्री पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'हिन्दी-साहित्य विमर्ष' और 'विश्व-साहित्य'—दो पुस्तकों की रचना की है। आपके अन्दर समालोचक के गुण पूर्ण रूप से पाये जाते हैं। और बहुत संक्षिप्त में आप अपनी बात कह जाते हैं। 'विश्व-साहित्य' में अन्य उन्नत साहित्यों का परिचय दिया गया है। आपने इस पुस्तक में बहुत संयम और सतर्कता से काम किया है। इस पुस्तक से हिन्दी साहित्यकारों को अन्य उन्नतशील साहित्यों का बहुत खासा परिचय मिल जाता है।

पं रामकृष्ण शुक्ल ने हिंदी में प्रसाद जी के नाटकों की समालोचना लिखकर प्रशंसनीय कार्य किये हैं। प्रसाद की नाट्य कला में प्रसाद की कृतियों का सुन्दर विश्लेषण है। इसमें पूर्वीय और पश्चिमीय नाट्यकला पर भी एक निबंध दिया गया है। लेखक बहुत ही सहानुभूति पूर्ण रहा है और दोषों को भी नम्रता पूर्वक दिखाने में समर्थ हुआ है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक समालोचक आजकल हिंदी साहित्य का भण्डार कर रहे हैं। पं० रमाकांत त्रिपाठी एम० ए० की 'हिंदी गद्य मीमांसा' गद्य के विकास और इतिहास पर सुन्दर और विवेचनात्मक प्रारम्भिक पुस्तक है।

इस कार्य को पं० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा एम० ए० ने 'हिंदी गद्य शैली का विकास' नामक पुस्तक लिखकर और भी उन्नत किया तथा आगे बढ़ाया है। श्री रामनाथ लाल सुमन की 'प्रसाद की काव्य-साधना' बहुत ही अध्ययनपूर्ण विवेचनात्मक, गम्भीर तथा पठनीय है। श्री शांति प्रसाद वर्मा ने भी पंत जी की काव्य कला पर सुन्दर निबंध लिखे हैं। निराला जी की 'रवीन्द्र कविता कानन' भी अपने ढंग की निराली पुस्तक है। इससे हिंदी में रवीन्द्र के काव्य की विशेषताएँ जानने में सुविधा होगी।

पं० जनार्दन प्रसाद झा ने 'प्रेमचन्द्र की उपन्यास कला' लिखकर इस ओर लोगों का ध्यान खींचा है। इसमें लेखक सफल हुआ है। गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' ने भी गुप्त जी की काव्य कला 'हिंदी काव्य की कोकिलाएँ' आदि पुस्तकें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त और भी हिन्दी लेखक समालोचनाएँ, पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहते हैं। मालूम होता है, अब हिंदी लेखकों में समालोचना की ओर अधिक रुचि होती जा रही है, यह हिंदी साहित्य के लिये शुभ लक्षण हैं।

———

(सम्पादक)

हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण

हिन्दी जगत की लतिकायें सर्वदा ही सुन्दर से सुन्दर प्राकृतिक कुसुमों से सुसज्जित रही हैं। वे प्रकृति के पुष्प उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और मध्य के विस्तृत मनोहर प्रदेश, दक्षिण पूर्व का बन्यखंड, दक्षिण-पश्चिम का झाड़खंड और मरुस्थली के रूप में स्थित हैं। हिंदी जगत् की सर्व दिशाएँ छोटी बड़ी नदियों, निर्झरों और जलस्रोतों से घिरी हुई हैं। अतः यह जगत आर्य भूमि का हृदय बन गया है। आदि कवि बाल्मीकि और महाकवि कालीदास के काव्य को इसी जगत की प्रकृति ने मनोहर बनाया है। इनका पंचवटी का वर्णन देखने योग्य है—

वाष्पसंछन्न सलिला रुतविज्ञेय सारसाः।
हिमार्द्र बालुकैः स्तीरैः सरितो भांति सांप्रतम ॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसर कर्णिकैः।
नाल शेषैर्हिमध्वस्तैर्न भांति कमला कराः ॥

(सरिताएँ जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं। हिम आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती है। कमल जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गये हैं, जिनकी केसर और कर्णिका टूट-फूट कर छितरा गई है, पाले से ध्वस्त होकर नील मात्र खड़े हैं।

कविवर कालिदास की लेखनी के शब्द जोकि हिमालय के सौंदर्य का बखान कर रहे हैं—

कपोल कंडू ! करिभिर्विनेतुं।
विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ॥
यत्र स्रुत क्षीरतमा प्रसूतः।
सान्दूनि गन्धः सुरभी करोति ॥

जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिये हाथियों के द्वारा रगड़े हुए सरल के पेड़ों से टपके हुए दूध से

उत्पन्न सुगन्ध शिखरों को सुगन्धित करती है।

इन कवियों में कदम-कदम पर हमें प्रकृति के रमणीय संश्लिष्ट चित्र मिलेंगे जिनमें हमें भारत की प्रकृतिस्थली के प्रति गूढ़ अनुराग के दर्शन होंगे। इन्होंने प्रकृति को• काव्य शास्त्र और काव्य ग्रन्थों की अन्तरात्मा से देखा और बाह्य प्राकृतिक ऐश्वर्य की ओर से अपने को उदासीन रखा। कालांतर ने हिन्दी कविता को जन्म दिया और वह प्रकृति सम्बन्धी संस्कृत काव्य के इस दाम की स्वामिनी हुई।

अन्य परिस्थितियों से भी हिन्दी कविता का पल्ला अछूता न रह सका। उसका जन्म हिन्दू संस्कृति और हिन्दी साहित्य की अवनति के दिनों में हुआ। आदि युग के कवि स्त्री-पुरुष विषयक रति और आध्यात्मिक साधना के विकृत रूपों से खिलवाड़ करते रहे। उनकी दृष्टि मानव के लौकिक जीवन और उसके आध्यात्म जगत ही पहुँच सकी। वह प्रकृति की ओर पूर्ण नेत्र न उठा सकी। सिद्धों ने अपनी कविता में अपनी साधनों को प्रकृति की भाषा में प्रकट किया है। वह यह अनुभव करते हैं कि वह स्वयं ब्रह्माण्ड है और उसके भीतर प्रकृति की नाना प्रकार की लीलाएं चल रही हैं। प्रकृति के इस रूप के दर्शनों को हम सन्तों के काव्य में भी करते हैं। कबीर और दादू-दयाल के सारे साहित्य में आध्यात्मिक होलीं, वर्षा, घाम, वसन्त आदि प्राकृतिक दृश्यों की प्रधानता है। मीरा के अनेक पद इन से ही सुशोभित हैं।

भक्ति साहित्य पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्रकृति का स्थान गौण है। क्योंकि उनके मुख्य विषय रामकृष्ण के चरित्रवान और प्रेम की मानवी भावनायें हैं। इनका प्रकृति चित्रण स्वतन्त्र रूप में न होकर उपमान के रूप में हुआ है। रीति काव्य की कविता में भी कवियों की लेखनी प्रकति की ओर नहीं झुकी है। कृष्णभक्ति साहित्य में शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का जो चित्रण हुआ था उसे ही उन्होंने आगे बढ़ाया। उन्होंने नायिका के अभिसार को अवभूमि में रख कर प्रकति को पीछे देखा है। वियोगिनियों की ऋतुचर्या के लिये उन्होंने 'षट ऋतु वर्णन', सम्बन्धी एक बड़ा साहित्य ही रच डाला। लोक गीतों की प्रणाली वीसल-

देवरासो से ही चल पड़ी थी। जायसी के पद्मावत ने उसे अपनाया। रीतिकाल में इस प्रणाली को प्रश्रय मिला। स्त्री के अंगों के उपमान के लिये प्रकृति की खोज की गई। इस काल के कवि प्रकृति के अस्तित्व की चिन्वा न करके नायिका के सौंदर्य के सहायक साधनों की चिन्ता करते थे। ये प्रकृति को नारीमय और नायिकाओं के इशारे पर नाचने वाला समझते थे।

नील परतन पर घन से घुमाय राखौ,
दन्तन की चमक छटा-सी विचरति हौं।
हीरन की किरनें लगाई राखौं जुगनू सी,
कोकिल-पपीहा-पिक वरनी सों भरति हौं॥

—देव

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
क्यारिन में कलिन क्लीन क्लिकन्त हैं।

—पद्माकर

फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन घन,
फूलि रहे ढारे मानो मोती अनगन हैं।

—सेनापति

रूक्यो सांकरे कुंजभग करत झांझ झुकरात।
मन्द मन्द मारुत तुरंग खूंदित आवत जात॥

—बिहारी

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण कुछ अपने ही बंधे हुए ढंग पर हुआ है।

हिन्दी कविता का प्रारम्भ विदेशी संघर्ष की गोद में हुआ है। उस अशान्त वातावरण में कवियों को प्रकृति के सौंदर्य की ओर झांकने का अवसर न मिला। इसके उपरान्त का जितना भी साहित्य है वह नैतिकता के रंग से रंगा हुआ था। संत साहित्य ने प्रकृति को सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। सूफी कवि चूंकि रहस्यवादी थे। अतः उनकी दृष्टि में प्रकृति परमात्मा सत्ता की ही अभिव्यक्ति है। उन्होंने विरह को प्रेम की चरम अभिव्यक्ति माना है, इससे उनकी प्रकृति भी

क्रन्दनशीला, पुरुष परित्यक्ता, आजीवन विरहिणी है। भक्ति काव्य की दृष्टि अपने आदर्शों के कारण संकीर्ण हो चुकी है। रीतिकाल की तुलना अंग्रेजी के पोप और ड्राइडन के काल की कविता से की जाती है। उस समय जो कविता हुई, वह पूर्णतयाः नागरिक थी। उसका विकास नगरों में हुआ था। रीतिकाल की प्रकृति उस काल के कवि की दासी है और उसके पुकारने पर वेश्या की तरह अनैसर्गिक शृङ्गार करके उसके सामने इठलाती हुई चली आती है। वह गृहिणी का सरल रूप नहीं ले सकी है।

परन्तु आधुनिक युग में प्रकृति को काव्य में स्वतन्त्र रूप से स्थान मिला। इस युग में प्रकृति को काव्य परिपाटी से उन्मुक्त करने वाले प्रथम कवि पं० श्रीधर पाठक हैं जिनको प्रेरणा 'गोल्ड स्मिथ की पुस्तकों' के द्वारा मिली। तनिक उनकी काश्मीर-सुषमा को देखिये—

फल फूलनि छवि छटा हुई जो बन उपवन की,
उदित भई मनु अवनि उदर सों विधि रतनन की।

द्विवेदी युग के कवि पाठक जी की रचनाओं से प्रभावित तो अवश्य हुए परन्तु उनमें से अधिकाँश प्राकृतिक वस्तुओं के परिगणनि से आगे नहीं बढ़ पाये। इसी समय कुछ पारखी कवियों ने प्रकृति का अच्छा अध्ययन किया और अपने निरीक्षण के परिणाम स्वरूप उसका रूप स्थिर कर दिया। हिन्दी में प्रकृति का विस्तृत, अलंकृत चित्रण पहले पहल अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔधजी ने किया। उनका महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्रों से भरा पड़ा है।

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु - शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

—हरिऔध

मैथिलीशरण गुप्तजी के महाकाव्य 'साकेत' में उनकी प्रकृति चित्रण-कला का रमणीय रूप देखिये—

नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,
देख लो लोचन कुमुद मुँदने लगे।

वेषभूषा साज ऊषा आ गई,
मुख कमल पर मुस्करा-हट छा गई ॥

पं० रामचन्द्र शुक्ल जी प्रकृति के सामान्य रूपों को चित्रित करने में भी सिद्धहस्त हैं। वे गुलाब को भी स्नेह करते हैं, और कटीली झाड़ियों को भी। इनकी निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है।

इनके अतिरिक्त छायावादी कवियों ने प्रकृति को देखने का दृष्टिकोण ही बदल दिया है। अंग्रेजी कवियों के समान वे भी चिल्लाये--"प्रकृति की ओर लौटो" पश्चिमी काव्य ने हमारे कवियों को प्रकृति की ओर विशेष रूप से खींचा है। प्रकृति और उसके उपादानों के प्रति आश्चर्य (पन्त), प्रकृति को विशद विस्तृत चित्रपट पर अंकित करने का प्रयास (निराला), मीनाकारी के सुन्दर सफल चित्र (प्रसाद, पन्त) प्रकृति में रहस्यमय शक्ति का अनुसंधान एवं आरोप (रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा), सहज सरल परिचित नागरिक एवं ग्रामीण चित्रण (भक्त, नैपाली)—ये उनके केवल कुछ प्रयोग हैं। छायावाद काव्य में प्रकृति को नारी का रूप दिया है। यह कहने में भी अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक काव्य में प्रकृति को श्रेष्ठ स्थान मिला है। इसका तात्पर्य यह नहीं है की आधुनिक काल के प्रत्येक कवि ने प्रकृति का राग गाया है। प्रकृति के राग गाने वालों का भी एक वर्ग है जिसको समाज प्रकृतिवादी कह कर पुकारता है। जैसे—

घर-घर से उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी बारी।
चौपालों में कृषक बैठे गाते कहँ अटके बनवारी।

(श्री दिनकर)

"भक्त" ने नूरजहाँ में प्रकृति का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। "नैपाली" की 'नौका विहार' प्रकृति की कली के रूप में साहित्य के पौधे पर खिल रही है।

द्विवेदी युग तक प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करली गई थी। आर्थिक संघर्ष से छुटकारा पाने के कारण से ही कवियों ने प्रकृति को अपनाया था। इस नवीन युग के कवियों ने जीवन की इतिवृत्तात्मकता,

यथा तथ्यता और कटुता के प्रति भावुक विद्रोह किया और अपनी भावनामयी प्रकृति के कारण उसकी उपेक्षा कर उन्होंने उसे आंख की ओट में करना चाहा। जिससे वे शीघ्र ही प्रकृति–रहस्यवादी हो गये। इनकी प्रकृति इनकी कल्पना में रहती है। इन नवीनतम कवियों ने प्रकृति के प्राकृत रूप की ओर दृष्टिपात किया है। इन्होंने प्रत्येक दिन के दृश्यों में सौंदर्य भरकर उपेक्षित क्षेत्रों में प्रवेश किया और उन्हें साहित्य प्रेमियों के सम्मुख रखा है। कविता में यथार्थवाद की जो नवीन धारा आ रही है, उसने प्रकृति के अन्यतम प्रदेशों में प्रवेश किया है।

(सम्पादक)

छायावाद

छायावाद का जन्म 'व्यंग्य' शब्द के द्वारा ही हिन्दी क्षेत्र में हुआ। इसके उपरांत १६१३ ई० के आस-पास प्रसाद जी की काव्य-धारा 'आँसू' भरकर लाई और पन्त ने जो 'वीणा' की तान छेड़ी तो फिर भारतीय जनता ने ही खड़ी बोली के इस रूप को छायावाद के नाम से पुकारा। बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजली' में वड्‌सवर्थ की कविताओं की छाया को देखा। जहाँ-जहाँ 'रहस्यवाद' का प्रयोग हो रहा था। अब उस स्थान पर 'छायावाद' का प्रयोग होने लगा। शनैः शनैः 'छायावाद' ने बंगाल की भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिक कविता के सिवा अनेक अंगों का विकास कर लिया। जिस कवि की रूप रेखा निम्न प्रकार की पाई जाती थी उसे छायावादी कवि समझा जाता था। लम्बे लम्बे केश, अस्पष्ट भावना, कठिन से कठिन शब्दों का प्रयोग, सतर्कता-रहित, उच्छृङ्खल व्यवहार, अव्यवहारिकता, इत्यादि। इतना होते हुए भी 'छायावाद' और उसकी रचनाओं का पूर्ण रूपेण विश्लेषण नहीं हो सका है। श्री 'शुक्ल' जी 'छायावाद' को 'कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' की ही उपाधि देते हैं। श्री नन्ददुलारे लाल जी का कथन है कि 'छायावाद'

एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की योजना है। श्री 'प्रसाद' इसको 'अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना' के द्वारा सुशोभित करते हैं।

वास्तव में देखा गया है कि 'छायावाद' शब्द का प्रयोग वर्तमान युग की महासमर और बाद की बहुमुखी हिन्दी कविता के लिये हुआ है। और इसमें अनेक प्रवृत्तियों के साथ आध्यात्मिक रहस्यवाद, सौंदर्य-निष्ठा, और मानव जीवन तथा प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण को प्रमुख स्थान मिला है।

आज का छायावाद पूर्व तथा पश्चिम की भावनाओं का बिगड़ा हुआ रूप है। पश्चिम वालों ने जो भौतिकवाद को अपना कर अशांति का तूफ़ान चलाया उसकी प्रतिक्रिया में भारतीय कवियों ने एक मात्र भौतिकवाद को न लेकर आत्मिक शांति के तत्व का आलम्बन ग्रहण किया। पाश्चात्य जाति ने हमारे भारत में आर्थिक उन्नति का प्रचार किया। उसी के प्रभाव से उसके प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न होगई। उसी भावना को लेकर जो कवि साहित्य क्षेत्र में उतरे वे छायावादी कहलाये। इसमें आत्मा परमात्मा की स्वतंत्र सत्ता विद्यमान् रहती है। अतः इसकी निम्न परिभाषायें हैं:—

१—साधना के क्षेत्र में जो द्वैतवाद है, उसी को काव्य क्षेत्र में छायावाद कहते हैं।

२—छायावाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रकृति का प्रकाशन है, जिसमें दिव्य और आलौकिक शक्ति से अपना शांत और निःच्छंद सम्बन्ध जोड़ सके।

३—असीम में सीमा की अनुभूति भी छायावाद कहलाती है।

४—ऐसी काव्य रचनायें जिनमें विराट की झांकी प्रदर्शित होती है छायावाद कहलाती है।

५—प्राकृतिक वस्तुओं में एक मानवता का अनुभव करना तथा उस अनुभव को काव्य रचनाओं में व्यक्त करना ही छायावाद है।

६—प्रकृति में मानवीय भावनाओं की छाया को देखना छाया-

वाद कहलाता है।

उक्त परिभाषाओं की कसौटी पर जब हम साहित्य कोकिला महादेवी वर्मा की—

"मधुर मधुर मेरे दीपक जल, तुम मुझ में परिचय क्या है ?"
आदि कविताओं को देखते हैं तो सुवर्ण के समान उज्ज्वल सी निकलती है।

फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि 'छायावाद' की उपरोक्त परिभाषायें सम्पूर्णतः मौलिक नहीं हैं। इस वाद के काव्य ने अपना व्यक्तित्व विकसित कर लिया था। जिसके द्वारा वे जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके हैं। इस काव्य को समझने के लिये नये मूल्यों का सृजन करना पड़ा, आलोचना के नये माप दंड बनाने पड़े। तब कहीं यह काव्य जनता तक पहुंच सका।

आज तक कोई भी काव्य अपने युग से बहुत ऊँचा नहीं उठ सका है। छायावाद काव्य ने तो अस्पष्टता की ओढ़नी, अमौलिकता का कुर्ता, अव्यवहारिकता की सलवार, अनैतिकता के मोजे और अशरीरीपन की चप्पलों से अपने शरीर को सुशोभित कर रखा है। ऐसा कुछ लोगों का अनुमान है। वास्तव में यदि देखा जाये तो वह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। जबकि अहिंसावाद ने दुःख, कष्ट सहन और पराजय को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्य वर्ग ने उपासना पर से विश्वास खो दिया था। आर्थिक और राजनैतिक संकटों ने कमर तोड़ दी थी। महासमर के आरम्भ की ऊषा के स्वप्न युद्ध समाप्ति पर कुहरे के धरोहर बन गये थे। ऐसे अशान्त वातावरण में काव्य का रूप और होई क्या सकता था ? श्री ठाकुर के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी काव्य चिंता को यह विशिष्ट रूप दे दिया है।

आज के युग में समाज और राष्ट्र की परिस्थितियाँ बदली जा चुकी हैं। हृदय के प्याले को बुद्धि ने पकड़ लिया है। छायावाद का

आध्यात्मिक आधार—अद्वैतवाद प्रायः लुप्त सा होरहा है, क्योंकि आधुनिक कवि उसका पल्ला छोड़ चुके हैं।

(सुश्री सुदेश शरण 'रश्मि')

हिंदी कविता में रहस्यवाद

मानव प्रारम्भ से ही आविष्कारक रहा है। वह उस प्रत्येक वस्तु को जो उसके जीवन से सम्बन्धित है—सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति से निरीक्षण करना चाहता है। जब वह सब कुछ जान जाता है तो जगत निर्माता की विस्मय से भरपूर छटा का दिग्दर्शन करके मुग्ध हो उठता है—उस मुग्धता में विस्मय की ज्योति है। उस विस्मय की ज्योति में उत्सुकता की झलक है। यही उत्सुकता प्रेमी की जिज्ञासा तथा अव्यक्त को व्यक्त करने की अभिलाषा को जन्म देती है। आत्मा व प्रकृति का रहस्य उद्‌घाटन की भावनायें ही रहस्यवाद की भावना है। इसमें परमात्मा के संमुख आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है।

रहस्यवाद की झलक ऋग्वेद के 'नासिदेव सूत्र' और पुरुष बलि की कथा में दृष्टि गोचर होती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर जीव सम्बन्धी धारा में रहस्यवाद की धारा प्रमुख रही है। इस धारा के दो रूप उपनिषदों तथा भागवत में मिलते हैं। इनमें एक ने ज्ञान का आश्रय लिया है और दूसरे ने प्रेम का। इस प्रकार से हम रहस्यवादी साहित्य को अर्वाचीन और प्राचीन दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन ठीक सा ही प्रतीत होता है क्यों कि प्राचीन काल का रहस्यवाद, आधुनिक काल के रहस्यवाद से कितनी ही बातों में भिन्न है।

प्राचीन युग में रहस्यवाद की धारा हिंदी के सिद्ध-साहित्य में प्रथम बार दृष्टि गोचर होती है और फिर नाथ-साहित्य में से होती हुई निर्गुण और निरंजन सम्प्रदाय में प्रवाहित होती है। इस साहित्य के मुख्य कवि कबीर और दादू हैं। इनका सिद्धान्त अद्वैतवाद का पल्ला

पकड़े हुए है। जैसे—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तप कथौ गियानी॥
—कबीर

सूफ़ियों का रहस्यवाद संतो के रहस्यवाद से कुछ भिन्न सा प्रतीत होता है। क्यों कि वह भागवत के प्रेम मूलक रहस्यवाद जैसा है। उसका प्रारम्भ वहाँ होता है जहाँ जीव और ईश्वर विषयक गवेषणा का अंत हो जाता है और वह सम्बन्ध मस्तिष्क से नीचे उतर कर हृदय की वस्तु हो जाता है। उस समय जीवात्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में एक मधुर भावना की सृष्टि होती है। इस भावना में आपस का आकर्षण और तीव्र मिलनाकाँक्षा निहित होती है ? इस आकर्षण को स्त्री-पुरुष के आपस के आकर्षण को रुपक द्वारा उपस्थित किया जाता है, परन्तु सूफ़ी काव्यों में थोड़ा सा अन्तर है। इनके काव्यों में रहस्योन्मुख सौन्दर्य और प्रेम को लेकर स्थान २ पर बड़ी मार्मिक व्यंजना उपस्थित की जाती है।

नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसन जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥
—जायसी

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमात्मक रहस्यवाद काव्य में सूफ़ियों का साहित्य बेजोड़ है।

हिंदी सगुण भक्त काव्य रहस्यवाद से कुछ वंचित सा रहा है। परन्तु सूरदास की काव्य रचना में कुछ स्थल बेशक रहस्यवाद के मूल को लिये हुए हैं। पर उनका कोई विशेष महत्व नहीं। हाँ, तुलसी की चातक प्रेम का अनुभूति रहस्यवादी कवियों की विरहानुभूति की तीव्रता तक अवश्य पहुंच गई है।

सत्रहवीं शताब्दी में रहस्यवाद का शरीर निर्जीव होता चला गया। जिस वस्तु के ऊपर उसका आधार था। वह लौकिकता की चोट से चूर चूर हो रही थी। साहित्य की चिंता प्रायः लुप्त सी होगई थी।

कविगण 'नारी' को केन्द्र बना कर 'शलभ' की भांति उसके चारों ओर परिक्रमा करने लगे थे। अठारहवीं शताब्दी कुछ अध्यात्मवाद के छीटे लेकर लौकिकता के कुर्ते पर डाल चुकी थी।

उन्नीसवीं शताब्दी ने हमारा परिचय अंग्रेजी साहित्य से करा दिया। श्रीधर पाठक इसके रंग में पूर्ण रूप से रंग गये। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी का अनुकरण होना आरम्भ होगया। पाश्चात्य रहस्यवाद की ओर भी कवियों का ध्यान गया। परन्तु उन्होंने उसे अपनाने की चेष्टा नहीं की। ऐसे ही वातावरण में कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजली' साहित्य जगत में आई। इस पर कबीर, वैष्णव, पश्चिमी साहित्य और उपनिषदों का पूर्ण प्रभाव था। इसलिए यह रचना पूर्व पश्चिम में सम्मानित हुई। हिन्दी साहित्य के कवियों ने भी रवीन्द्र की शैली को अपनाया और इस प्रकार अर्वाचीन काल में रहस्यवादी कविता का सूत्रपात हुआ।

प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवाद में महान् अन्तर है। प्राचीन काव्य के मूल में धार्मिक अनुभूति और साधना थी। इस कारण से इसका रहस्यवाद बहुत ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर उठा हुआ होता भी साधारण पाठक के लिये अगम्य नहीं था। अर्वाचीन रहस्यवाद में काव्य का आधार कल्पना है। इसके पीछे न धार्मिक अनुभूति है, न ही साधना का फल है, और न ही उसका विषय है। इस कारण से वह भी भारतीय रहस्यवाद की परम्परा से मेल नहीं खाते हैं।

आधुनिक रहस्यवाद में प्रकृति, सौन्दर्य, विरह और मिलन को भी रहस्यानुभूत माना गया है, केवल इन्द्रियानुभूत नहीं। वास्तव में धार्मिक रहस्यवाद इस धर्म हीन युग की विशेषता नहीं हो सकता था। भिन्न प्रवृत्तियों के कारण रहस्यवाद काव्य में शैली के अन्तर होगये हैं। इतने पर भी आधुनिक रहस्यवाद तीन रूपों में मिलता है—

१ बैचेनी का अनुमान करना—जैसे:—

नभ के पर्दे के पीछे करता है कौन इशारे,
सहसा किसने जीवन के खोले बंधन सारे।

२. व्याकुलता को लेकर— अनन्त से आत्मा का सम्बन्ध बताया गया

हो, जैसेः—

तोड़ दो यह क्षितिज में भी,
देखलूं उस ओर क्या है ?
जारहे जिस पंथ से युग,
कल्प उसका छोर क्या है ?

३. माया का पर्दा हट जाने पर जैसेः—

इन वाह्य चक्षुओं में तो, जल प्लावन सा है आया ।
खुल गये नयन अन्तर के, जब उसने रूप दिखाया ॥

(प्रो० रामरत्न एम० ए०)

—:—

प्रगतिवाद

प्रगति का अर्थ है, उन्नति की ओर अग्रसर होना और 'वाद' का अर्थ है सिद्धांत युक्त मार्ग । जिन सिद्धान्तों के तथ्यों पर मानव वर्ग प्रगति की ओर बढ़े, वही प्रगतिवाद है । यह वाद हिन्दी जगत के लिए नवीन है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसकी अवस्था लगभग १५ वर्ष की ही है । जब की नवम्बर ३५ में इंगलेंड में वहां के प्रगतिशील लेखकों ने पी० ई० एम० नामक संघ की स्थापना की । उससे अगले वर्ष यहां के लेखकों की सभा मुन्शी प्रेम चन्द जी के सभापतित्व में लखनऊ में हुई । और साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद की विषमताओं के प्रति विद्रोह करने के लिए इस 'वाद' का जन्म हुआ ।

जिस समय इस का प्रादुर्भाव हिन्दी क्षेत्र में हुआ उस समय छायावाद का दौरदौरा था । छायावाद में मानव जीवन की केवल छाया ही अंकित थी । वास्तविकता का चिन्ह भी न था । उस समय के कवि समाज की ओर से विमुख होकर कल्पना और प्रकृति की सुन्दरता में ही लीन हो गए थे । इस का प्रभाव यह हुआ कि भाव और भाषा की दृष्टि से छायावादी कविता समाज से दूर ही होती चली गई । अतः साहित्य में इसकी प्रतिक्रिया होनी नितान्त आवश्यक थी । क्यों कि

मानव साहित्य में अपने जीवन की समस्याओं का ही चित्रण देखना चाहता है। इन्हीं कारणों के कारण प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। क्योंकि प्रगतिवाद में मानव वर्ग की समस्याओं का विश्लेषण रहता है और उसकी भाषा व्यवहारिक ढंग को अपनाये हुए हैं।

प्रत्येक 'वाद' की अपनी विचारधारा होती है। इसी प्रकार प्रगतिवाद की भी अपनी विचार धारा है, जिसको जन्म देने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। यह विश्व का सबसे प्रथम व्यक्ति था, जिसने विश्व को परिवर्तित कर डालने की भावना को जन्म दिया। इनके सिद्धान्तों का निष्कर्ष यह है कि पूंजीवाद विश्व का सबसे महान शत्रु है। और यही विश्व की उन्नति में रुकावट वन कर आया हुआ है। वह तो ईश्वर और धर्म को भी रुकावट का ही एक रूप मानते हैं। वह तो मानव धर्म में किसी प्रकार का भेद नहीं चाहते। इसी विचार धारा की आधार शिला पर प्रगतिवाद की नींव रखी गई है। वस्तुतः राजनीति के क्षेत्र में जो समाजवाद है वही साहित्य क्षेत्र में प्रतिवाद है।

इस धारा के अन्तंगत जिस साहित्य की रचना हुई है वह उच्चकोटि के साहित्य में स्थान नहीं पा सकती। क्यों कि वह भावों की कोमलता और साहित्य सौन्दर्य से अछूती रह गई है। प्रगति-शील साहित्य का सृजन समाज और देश के निर्माण के लिए होना चाहिए न कि विदेशी ओढ़नी को ओढ़ कर वैठने के लिए ऐसा न होने पर देश के अहित होने की आशंका वनी रहती है। यह सब लेखकों के ऊपर निर्भर होती है। क्योंकि वे स्वयं ही अपना कर्त्तव्य समझ सकते हैं। ये उचितमार्ग पर ही चल कर अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधन वन सकते हैं। वर्त्तमान प्रगतिशील साहित्य के द्वारा हमें देश और समाज के हित की वहुत कम सम्भावना है।

क्योंकि वर्तमान प्रगति शील लेखक केवल सरकार और समाज की वुराइयों की ओर ही इंगित मात्र ही कर के रह जाते हैं। उसकी ओर से कोई भी प्रगति या उन्नति के लिये ठोस कार्य-क्रम प्रस्तुत नहीं किया जाता। देश और समाज का भला वुराइयाँ दिखा

देने मात्र से ही नहीं हो जायेगा। ठोस कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना ही आज के प्रगति शील लेखकों का परम पुनीत कर्त्तव्य होना चाहिये, जिस प्रकार महात्मा गांधी ने सिद्धांतों की अपेक्षा रचनात्मक कार्यक्रम को अधिक महत्व दिया है। २०वीं शताब्दी के इस महान् प्रगति शील विचारक के पद चिह्नों का अनुकरण करके ही हिंदी के प्रगति शील लेखक अपने देश और समाज का कुछ भला कर सकेंगे। अन्यथा उनसे ऐसी कोई आशा नहीं की जा सकती।

(सुश्री विद्यावती जैन)

ललित कला और जीवन

विश्व को सौन्दर्य और उपयोग की विशेषता प्रदान करने वाली सामग्री को कला कहते हैं। प्राकृतिक तथा मानव दोनों ही सृष्टि में हम कुछ न कुछ उपयोग या सौन्दर्य की प्राप्ति करते हैं। कला के ये दोनों गुण सब में विद्यमान् होते हैं, अतः जीवन का इससे घनिष्ट सम्बन्ध है।

मानव अपने बाल्यकाल से ही अतृप्त अधरों, आतुर हृदय तथा सचेष्ट प्रयत्नों से आनंद और सौंदर्य की खोज में भटकता रहा है। क्योंकि इस कलारूपी अप्सरा के नृत्य से ही उसका हृदय आनंद से विभोर हो उठता है। कला की सृष्टि और उसका विकास करना उसके जीवन का आदर्श है। उसके जीवन का जो लक्ष्य है, जीवन में जो कुछ जीवन है, वही 'कला' है। कला से रहित जीवन बिल्कुल मरुभूमि है।

आनन्द के द्वारा

इस संघर्षमय विश्व के अन्दर द्वेष की भावनाओं से प्रेरित मानव, विश्वासघात और प्रपंचना से पीड़ित मानव, स्वार्थ और धोखे से आहत मानव, स्नेह और ममता जाल में भटकता हुआ मानव, आनंदमय विश्व को देखने की लालसा में है। उसने अपनी इस लालसा को

पूर्ण करने के लिये इस कला का विकास किया है। इसी आनंद की प्राप्ति के लिये तो आज मानव पागल हो उठा है। उसकी आनंद की खोज ही इस कला की व्याकुलता है। कला मानव की आनंद प्राप्ति की प्यास को बुझाती है।

सौंदर्य के द्वारा

मानव सौंदर्योपासक प्राणी है। वह प्रत्येक वस्तु को सुन्दर से सुन्दर रूप में देखना चाहता है। वह इसके लिए भी इतना ही पागल है जितना कि आनंद के लिए। हो भी क्यों न ? 'सौंदर्य ही सत्य है और सत्य ही आनंद'। जो सुन्दर है, असुंदर नहीं हो सकता। उसका सौंदर्य तो प्रकृति के समान दिन पर दिन नवीन होता रहता है। अतः सुन्दर सत्य भी हुआ। सत्य ही कल्याणकारी है। इसीलिए कहा गया है– 'सत्यं शिवं सुन्दरं।' अतः मानव हृदय का सौंदर्य के लिए तड़पना स्वाभाविक ही है।

आनन्द और सौन्दर्य मानव जीवन के वरदान अभाव के पूरक हैं। कला जीवन की पूर्णता है। कला मानसिक जीवन की जागृति का साकार आनन्दमय सुन्दर रूप है। कला को मानसिक विकास का इतिहास न कह कर काव्यमय स्वरूप कह सकते हैं। इसकी प्रेरणा से ही हृदय स्वप्नों के परों पर उड़ान भर कर उस आनन्दमय अदृश्य विश्व की थाह लाता है, जहाँ सब की पहुँच नहीं होती। किसी राष्ट्र की कला के विकास से हमें पता लग जाता है कि वह जीवन के प्रति कितना जागरूक है। उसका निरीक्षण कितना सहज और गम्भीर है। जीवन को कितना समझ चुका है। यूनान में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला उत्पन्न हुई और उन्नति की ओर अग्रसर हुई। पर काव्य और संगीत कला भारत की अपेक्षा कम उन्नत रहीं। भारत कला की आत्मा तक पहुँच चुका है, अतः यह उसकी दार्शनिकता से भली भांति परिचित है।

ज्यों ज्यों मूर्ताधार की सुंदरता न्यून होती जाती है। त्यों त्यों कला का स्थान ऊँचा होता जाता है। मूर्ताधार त्याग का केवल भावनामय रह जाना ही कला का अभिषेक है। अतः कला और जीवन का लक्ष्य

एक ही है ।

आज बहुत से विद्वानों के मुख से यह सुना गया है कि 'कला कला के लिये है और जीवन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।' इस प्रकार वह तो एक स्पदन हीन, मृत और तम पुंज है। इस वाक्य को कहने वाले कला और जीवन से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। कला मानव जीवन को आनन्द की अभिव्यक्ति कराती है। मानस में उठने वाले वेगों को साकार रूप देती है। तो क्या आनन्द का जीवन से सम्बन्ध नहीं? भावनाओं और हृदय की तरंगों का जीवन में कोई भाग नहीं? ये जीवन के वास्तविक तथ्य हैं। हृदय रंजन करना कला का उद्देश्य है।

कला और जीवन दोनों एक ही पदार्थ हैं। कला जीवन की पूर्णता और विकास है। यह जीवन की आत्मा है। आनंद और सौंदर्य की प्राप्ति मानव जीवन का ध्येय है। इसको प्रदान करने वाली कला है और इसकी प्रेरणा से ही जीवन सजग रहता है।

(श्री योगेश्वर चंद्र)

जयशंकर प्रसाद और उनकी काव्यधारा

कवि प्रसाद हिंदी साहित्य के लिये देवी-प्रसाद थे। इन्होंने जो हिंदी साहित्य की सेवा की है, वह सर्वदा अमर रहेगी। इन्होंने हिंदी साहित्य को विश्वसाहित्य रूपी गगन का सितारा बना दिया है। जिसको दूसरे छूने में भी असमर्थ हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में यौवन और उन्माद, प्रेम और संयोग - शृङ्गार आदि का जहाँ विशद वर्णन किया है तो दूसरी ओर निराशा और वियोग, वेदना और रुदन, विरह और क्रन्दन में भी उनकी लेखनी का चमत्कार देखने योग्य है। इन्होंने अपनी रचनाओं में मानव हृदय में उठने वाले भावों का प्राधान्य रखा है। इनकी कविताओं में युद्ध भी है और समझौता भी, राग भी है और विराग भी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अवसान के पश्चात् हिंदुओं के पवित्र स्थान काशी ने पुनः हिंदी साहित्य युग के निर्माता एक महान कलाकार

प्रसाद जी को जन्म दिया। इनका जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ, जिसके कारण प्रसाद जी अल्प आयु में ही कविता और साहित्य से परिचित होगये थे।

माता पिता का सहारा अल्प आयु में ही छूट गया। इसके कारण उन्होंने अपनी शिक्षा कालिज में न पाकर घर पर ही पाई। इन्होंने संस्कृत का गहरा अध्ययन किया. जिसके कारण उनकी रचनाओं की भाषा कठिनसी प्रतीत होती है। इनकी भावना दर्शन शास्त्र और बौद्धधर्म से सर्वदा प्रेरित है। अल्प आयु में तीर्थों के भ्रमण से प्राकृतिक सौंदर्य. पर्वतों के अनुपम दृश्य इनके हृदय में घर कर गये थे। इन्होंने उनका अपनी अनेक रचनाओं में सजीव चित्रण किया है। पुष्पों के तो यह सदा प्रेमी रहे।

इनके तीन विवाह हो पर भी साहित्य में इनकी रुचि दिन पर दिन बढ़ती ही गई। ये भारतीयता और उसकी संस्कृति के पोषक थे। प्राचीन संस्कृति की झलक इनके प्रायः सभी नाटकों में मिलती है। इन्होंने उपन्यासों में भी सामाजिक जीवन का बड़ा अनूठा वर्णन किया है।

इन्होंने अपने पूर्वजों के इतिहास का वड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्य की जो गुप्त सेवायें की हैं, उसका हिन्दी साहित्य सर्वदा ऋणी रहेगा। अतः इनको हिन्दी के सर्वगुण सम्पन्न कलाकार की उपाधि दी गई है।

ये सक्रान्ति कालीन कवि थे। जिस समय इन का कदम साहित्य क्षेत्र की ओर उठा उस समय भारतेन्दु युग का अन्त और द्विवेदी युग का आरम्भ हो चुका था। यह वह समय था जब कि नवीनता और प्राचीनता का घोर संग्राम चल रहा था। यह परिवर्तन का युग था—काव्यों की भाषाओं में परिवर्तन हो रहा था। यह समय बड़ी दुविधा का था। ऐसे समय में भी इन्होंने अपने उत्साह को शिथिल न होने दिया और निर्भय होकर आगे की ओर बढ़ते ही गये। प्रारम्भ में इन्होंने ब्रज भाषा में रचनायें कीं। ये द्विवेदी युग से सर्वदा बाहर रहे। अवसर पाते ही इन्होंने नवीन शैली और भावों पर खड़ी बोली में कवितायें लिखनी आरम्भ की और अपने साहित्यको समाज के सन्मुख

पहुँचाने के लिए 'इन्दु' नामक पत्रिका की स्वयं स्थापना की।

इन की कविताओं में असीम वेदना, और विरह व्यथा है। इनकी काव्य वीणा झंकृत हो उठी है। फिर भी इनके तारों में निराशा का स्पन्दन नहीं हैं। रीतिकाल की शृङ्गारिक कविताओं की प्रतिक्रिया द्विवेदी युग में हुई और द्विवेदी कालीन कविताओं की प्रतिक्रिया प्रसाद युग में, छायावाद के रूप में हुई। इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद के कुछ चिन्ह भी इनकी कविताओं में पाये जाते हैं। आपके साहित्य नेही निम्न वादों को जन्म दिया है। रहस्यवाद, छायावाद, यथार्थवाद, निराशावाद, नियतिवाद और प्रेमवाद।

इनकी २० वर्ष तक की कवितायें यथासमय 'चित्रधार' में प्रकाशित होतीं रहीं। इनकी करुणामयी कविताओं का संग्रह 'कानन कुसुम' के नाम से जनता के सम्मुख आया। इनकी अन्य रचनायें इस प्रकार हैं। 'आँसू'—यह विवशता की घड़ियों में लिखा गया प्रसाद की 'विप्रलंभ शृङ्गार' की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस ग्रन्थ में कवि की विकल भावनायें और उसके हार्दिक उद्‌गार आँसू बन कर छलक उठे हैं। फिर भी इस रुदन में कवि जीवन समाप्त नहीं कर देता, इस से तो वह ऊपर उठता है और जीवन से समझौता करता है। विश्व में रहकर सुख दुःख को झेलने की शक्ति उत्पन्न करके पुनर्मिलन की आशा करता है :—

स्मृति—समाधि पर होगी,
वर्षा कल्याण—जलद की।
सुख सोये थका हुआ—सा,
चिंता छुट जाय विपद की।

इन पंक्तियों ने कवि को जीवन रुदन से बहुत ऊँचा कर दिया है। परन्तु कुछ आलोचक 'आँसू' में रहस्यवाद को ढूंढने की चेष्टा करते हैं, परंतु यह सब व्यर्थ। क्यों कि यह अलौकिक विरह की गाथा नहीं अपितु लौकिक प्रेम की अमर कथा है। भौतिकता में आध्यात्मिकता का सजीव दर्शन बनाना प्रसाद का ही कार्य था। सचमुच आँसू में प्रसाद 'प्रसाद' बन गये हैं।

प्रेम पथिक

प्रेम की सच्ची अनुभूति के स्वरूप को लिए हुए यह प्रसाद जी

का श्रेष्ठकाव्य है—इन्होंने यौवन रूपी पोषण से भी प्रेम रूपी सरिता की लहर बहा दी है। इन्होंने अपनी लेखनी द्वारा बता दिया है कि सत्य-प्रेम, दुःख और कठिनाइयों का पथ है, त्याग और तपस्या का जीवन है। प्रेम पथको बलिदान का पथ बताया है—इस पथ के अनुयायी को विश्राम का अवकाश भी नहीं मिल पाता है। प्रेम के इस मार्ग का प्रदर्शन कवि ने कितने वास्तविक शब्दों में किया है :—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
श्रांत भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर,
जिस के आगे राह नहीं॥

झरना

प्रसाद जी का यह सर्व प्रथम ग्रंथ छायावाद को लिए हुए है। हृदय के स्नेह की कोमल उच्छवासें इस में झरने की तरह फूट पड़ी हैं। इस ग्रंथ की रचना में स्वयं प्रसाद जी यौवन और प्रेम के अदम्य प्रवाह में बह गये हैं—अपनी विवशता को प्रत्यक्ष दिखाते हुए कहते हैं:—

करता हूँ जब कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झंकार॥

जड़ प्रकृति को मानव का रूप बना कर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने की प्रकृति ही 'छायावाद' कहलाती है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना में इसी रीति को पूर्ण रूपसे अपनाया है।

लहर

यह प्रसाद जी की बड़ी सुन्दर रचना है। इस में इन की निराशा आशा की लहर बन कर छा गई है। वह इसकी रचना में भावुक बन कर प्रेम में और भी गंभीर होते गये हैं। इस में उन्होंने सांसारिक

संघर्षों से दूर—इतनी दूर जहां कोई और न पहुँच सके—जाने की इच्छा इन शब्दों द्वारा प्रगट की है—

ले चल भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे, धीरे।

वह तो इन आशा निराशा के झमेलों से दूर भागना चाहते हैं- इस कृति में इन्होंने प्रकृति चित्रण बड़ा अनूठा किया है—

बीती विभावरी, जागरी।
अम्बर पनघट में डुबा रही,
तारा घट-ऊषा-नागरी।
खग-कुल-कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।

कितना सुन्दर प्रकृति का वर्णन है। शब्दावलि कितनी उपयुक्त और रस कितना भरपूर।

कामायनी

जीवन के प्रति, जागरूकता, प्रेम की सरसता, यौवन का उल्लास और अतीत के अमिट प्रेम और जीवन की वास्तविक विवेचना की प्रेरणा से ही जयशंकर प्रसाद जी ने हिन्दी को 'कामायनी' जैसा अमर महा काव्य प्रदान किया है। इस में आशा निराशा, सुखदुःख प्रेरणा प्रकृति के अत्यन्त रोमांचकारी और मनोवैज्ञानिक चित्रण हैं। यह महाकाव्य प्रसाद जी की अंतिम किंतु सर्वोत्कृष्ट रचना है—यह वैदिककाल की प्रलय की गाथा को आधार मान कर मानव सृष्टि के इतिहास की कथा में प्रबन्ध काव्य के रूप में हमारे सन्मुख आया है। यह काव्य हिंदी साहित्य ही में नहीं अपितु विश्व साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखती। 'कामायनी' की रचना के पश्चात् ही इनके हृदय को शांति की संजीवनी बूटी मिली।

कथा

देवताओं की उच्छृंखलता से होने वाली प्रलय में मनु अक-

स्मात बचकर चिन्तित मुद्रा में हिमालय की एक शीतल शिला पर बैठे अपने वैभव को स्मरण कर रहे हैं। थोड़े ही समय पश्चात् प्रलय का अन्त होकर स्वच्छ पृथ्वी निकल आती है। वे वहां से उतर कर पृथ्वी पर आते हैं और यज्ञ करते हैं—उस यज्ञ शेष को दूर छोड़ आते हैं कि मेरे समान ही कोई और प्राणी बच निकला हो और वह इस से अपनी क्षुधा पूर्ति कर सके। अन्त में काम की लड़की 'श्रद्धा' उनके अशांत जीवन में शांतिका संचार करती हैं, और 'काम' के परिचय कराने पर वे उससे अनुराग करने लग जाते हैं।

इससे वासना का जन्म होता है किंतु श्रद्धा लज्जा की ओढ़नी ही ओढ़ना चाहती है। मनु यज्ञ करते हैं, वो अपने को समर्पण कर देती है।

शिकारी मनु को श्रद्धा की भावी संतान के लिए उत्सुकता तनिक भी नहीं भाती। वो ईर्ष्या का पल्ला पकड़े उसे छोड़ सारस्वत नगर में इड़ा से मिल जाते हैं। वे वहां के शासक बन कर इड़ा पर बलात्कार करना चाहते हैं, जिससे उन्हें देवों से संघर्ष करना पड़ जाता है।

श्रद्धा यह सब कांड अपने स्वप्न में देखती है और अपने पुत्र मानव को लेकर उनकी खोज में निकल पड़ती है। वह मनु को घायल अवस्था में देख इड़ासे क्षुब्ध हो उठती है। श्रद्धा को देखते ही वह निर्वेद की इच्छा को मन में धारण कर के वहां से भाग खड़े होते हैं। श्रद्धा मानव को इड़ा के पास छोड़कर स्वयं उनकी खोज में भटकती है। उन से मिलकर उन्हें शिवका दर्शन कराती है। सारा रहस्य समझ कर अंत में उन्हें आनंद की प्राप्ति होती है। इतने में मानव को संग लिए इड़ा भी वहाँ पहुँच जाती हैं।

कामायनी का मनोवैज्ञानिक आधार

प्रसाद जी ने कामायनी का नाम हृदय की भावनाओं पर रख कर उसकी जटिल कथा को इन १५ भागों में बाँटा है– १. चिता, २. आशा, ३. श्रद्धा, ४. काम, ५. वासना, ६. लज्जा, ७. कर्म, ८. ईर्ष्या, ९. इड़ा, १०. स्वप्न, ११. संघर्ष, १२. निर्वेद, १३. दर्शन, १४. रहस्य, १५. आनंद।

कामायनी द्वारा मनो विज्ञान का सुन्दर चित्रण सर्गों के नाम कक्षा के साथ मनोवेगों के रूप में पूर्ण हुआ है। मानवता के विकास के लिए किस पथ का अनुसरण करना पड़ा ? उस पथ की भावनाओं से मानव को कैसे और कितना संघर्ष करना पड़ा ? आनन्द के प्राप्त करने के लिये उसकी मन की दशायें कैसी होजाती हैं ? इन्हीं सब बातों को जयशंकर प्रसाद जी ने कलात्मक रूप में 'कामायनी' में दिखाया है। घटनायें और प्रकृति वर्णन तो इन मनोवैज्ञानिक विचारों की व्याख्या सी प्रतीत होती है। इन्हीं के क्रमिक विकास द्वारा मानवता का विकास दिखलाना प्रसाद जी का लक्ष्य रहा है।

अभाव के कारण मन में चिन्ता घर कर लेती है। इससे निराशा का जन्म होता है और मनु अपनी सत्ता को भी खो देना चाहते हैं। यह निराशा मनु के मन में कुतूहल को जन्म देती है। इसी के कारण मनु के जीवन में आस्तिकता का उदय होता है। जिससे उनके जीवित रहने की इच्छा होती है।

मनु के ऊपर वासना का विष असर कर चुका था। वह यह नहीं समझ सकते थे कि वह यौवन की उद्याम मस्ती तो चार दिनों की चांदनी है। मां बनने पर स्त्री की चंचलता क्षीण हो जाती है। इसी कारण श्रद्धा में मातृत्व किरण के जागृत हो जाने पर वो गंभीर सी हो रही थी। और उसके सौन्दर्य की चंचलता का स्थान उसका स्नेह ले रहा था, किन्तु अभागा मनु वासना का ही भूखा था। इसलिये वो उसकी चंचलता को अपने हृदय में बन्द रखना चाहता था। लेकिन इसमें वो असफल रहा। मनु की वासना तीव्र हो उठी। इस असफलता की ईर्ष्या ने उन्हें बुद्धि की ओर संकेत किया, जिस की प्रतीक इड़ा है।

यह बुद्धि (इड़ा) मन (मनु) को भौतिक उन्नति की ओर आकर्षित करती है, जिसके आधार पर 'बुद्धिवाद' पर आधारित कृत्रिमता का पूर्ण विकास हुआ। यहां भी मनु अपने को संयम की जंजीरों में न जकड़ सके। स्वयं नियामक के अहंकार को प्रथम देकर नियम का उलंघन करने के कारण संघर्ष का श्री गणेश किया। वे स्वयं न मानकर दूसरों से उन नियमों को मनवाना चाहते हैं, यही आजकल के संघर्ष का कारण है।

इस संघर्ष ने उनके मन में निर्वेद का संचार किया। क्यों कि ऐसी बहुत सी गाथायें हमारे सन्मुख हैं कि राष्ट्र के चोटी के क्रांतिकारी व्यक्ति अन्त में सन्यास को ग्रहण कर लेते हैं; किन्तु इस वैराग्य में भी श्रद्धावृत्ति उनके साथ रहती है। फिर वे संसार के हित के लिये ग्रन्थों की रचना करते हैं। यही हित श्रद्धा है। कामायनी का मनोवैज्ञानिक आधार है।

जिससे हमें हार्दिक स्नेह होता है। कभी २ उसकी दुर्बलताओं पर हम क्षुब्ध हो उठते हैं। कभी २ उस पर स्नेह का सागर उड़ेल डालते हैं। इसको प्रसाद जी की लेखनी कितने सुन्दर शब्दों में प्रगट करती है।

प्रिय को ठुकरा कर भी,
मनकी भाषा उलझा लेती।
प्रणय-शिला प्रत्यावर्तन में,
उसको लौटा देती॥

आज हम अपने स्नेही को ठुकरा कर भी उस के प्रति आकर्षित होते हैं, जिस प्रकार सरिता की तरंगें शिला-खण्डों से टकरा कर दुगने वेग से उठती हैं। इसी प्रकार स्नेही को ठुकरा देने पर भी हमारा हृदय दूने वेग से उसके प्रति आकर्षित हो उठता है।

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठ भूमि

प्रसाद जी की कामायनी एक रूपक है, जिसमें मनु 'मनका, 'श्रद्धा' हृदय की पवित्र भावना का तथा इड़ा 'बुद्धि' की प्रतीक है। प्रसाद जी के काव्य का यह आधार और उनकी यही दार्शनिक विचार धारा है। बुद्धि ने ही संघर्ष को उत्पन्न किया है। आज का विश्व-कलह इसी का परिणाम है। जब मन बुद्धि की अग्नि से झुलस जाता है, तब श्रद्धा ही उसे आनन्द तक पहुँचाने में उसका साथ देती है।

कामायनी में शैव तत्व

स्वयं प्रसाद जी शिवजी के उपासक थे। इन्होंने शिवजी के

स्वरूप को कामायनी में बहुत ही विलक्षण रीति से उपस्थित किया है। कैलाश पति का प्रकृति द्वारा वर्णन करने पर भी प्रसाद जी श्रद्धा द्वारा त्रिपुरादि (त्रिपुर का शत्रु) शिव का रहस्य कामायनी द्वारा खुलवाते हैं ।

कामायनी में नारी प्रतिष्ठा

इन्होंने कामायनी में स्त्री के अधिकारों की बड़ी विशद चर्चा की है। इसमें दो नारी पात्र हैं। कामायनी और इड़ा, दोनों में नारीत्व और ममता कूट २ कर भरी है। कामायनी तो आदि से अन्त तक श्रद्धा ही रही। इड़ा भी कुछ प्रेरणा मयी रही है, जिस तरह एक वीर मनु को कर्त्तव्योपदेश देते हुए श्रद्धा कहती है—

"तुम भूल गए क्या इस जीवन में,
कुछ सत्ता है नारी की।"

दूसरी ओर जब मनु इड़ा पर बलात्कार करना चाहते हैं, उस समय वह क्रुद्ध होकर प्रजा पक्ष में अवश्य मिल जाती है, किन्तु उसके घायल होने पर सेवा करती हुई कहती है।

"इसे दंड देने मैं बैठी,
या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली,
कैसी उलझन वाली मैं।"

यही सच्चा नारीत्व है जो पुरुषत्व की अपेक्षा अपने आप ही सहस्त्र गुणा ममतामयी है। यही पुरुष को उन्नति की ओर ले जाती है। नारी पुरुष के गले का हार है, उसके जीवन का भार नहीं। यही प्रसाद जी का कामायनी में संदेश है।

कामायनी में श्रद्धा और बुद्धि

मानव इन दोनों के सामंजस्य से ही सफलता प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा अपने लाड़ले मानव को इड़ा के पास छोड़ते समय यही उपदेश देती है।

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मनन शील कर कर्म अभय।"

कामायनी में गांधीवाद

प्रसाद जी स्वयं अहिंसा के पुजारी थे। श्रद्धा मनु के निरीह पशुओं की हत्या पर उसे बहुत मना करती है। इनके कई स्थलों पर गांधीवाद की छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

प्रसाद जी का कामायनी में विरह वर्णन

प्रसाद जी ने जिस प्रकार का विरह वर्णन कामायनी में किया है। वह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। सूर और जायसी के विरह वर्णन में ऐन्द्रिक लालसा की पुट थी। रीतिकाल के कवियों की विरह वर्णन में एक प्रकार का खिलवाड़ था। किंतु इनकी कामायनी के विरह-वर्णन में किसी प्रकार की वीमत्सता नहीं आ पाती और न ही किसी प्रकार की वासना की गंध मिलती है। विरह वर्णन की संध्या का वर्णन करते हुए कविने जहां एक ओर संध्या की उदासी से कामायनी की उदासी की सूचना दी है; वहीं दूसरी ओर संध्या समय मिलन का भाव सबों के हृदय में उठता है। पशु पक्षी घर को लौट रहे हैं– उसी विरह का वर्णन प्रसाद जी ने इन चार पंक्तियों में किया है—

विस्मृत हों वे बीती बातें,
अब जिन में कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही,
अब वैसा शीतल प्यार नहीं।
सब अतीत में लीन हो चली,
आशा मधुअमिला पाएं।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई,
पर मेरी तो यह हार नहीं।

यह विरह वर्णन वेदना से भरपूर है, किंतु संयम से संयमित इन का विरह वर्णन बड़ा ही उत्कृष्ट है।

प्रकृति चित्रण

प्रसाद जी ने इस ग्रन्थ में प्रकृति का चित्रण भी बड़ा सुन्दर किया है। इस के दोनों ही रूपों का वर्णन रोचक शैली में किया है। कोमल और भीषण रूप दोनों के ही उदाहरण क्रमवार हैं—

सिन्धु सेज पर धरा वधु,
अब तनिक संकुचित बैठी सी— (कोमलरूप)
उधर गरजती सिन्धु लहरियां,
कुटिल नाल के जाली सी।
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी ॥ (भीषण)

कामायनी की भाषा शैली

इसकी भाषा शैली मधुमय शब्दों से सनी हुई होने पर भी प्रसंगानुकूल, ओज पूर्ण और सुगठित है। इस की भाषा प्रसाद जी के भावों की अनुगामिनी है यह शुष्क पांडित्य से रहित और बनावट से दूर है। इस में प्रसाद गुण का कुछ अभाव रहा है। इन्होंने अपनी भाषा में पुराने अलंकारों का प्रयोग भी अनूठे ढंग से किया है।

कामायनी में छायावाद

प्रसाद जी की यह कृति छायावाद का उत्कृष्ट नमूना है। लज्जा सर्ग इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्होंने प्रकृति को भी मानवी के रूप में बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त करते हुए लिखा है—

''पगली ! हां, सम्भाल ले.
कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख, बिखरती है मणि राजी,
अरी उठा, वेसुध ! चंचल।

कामायनी में रहस्यवाद

कामायनी में रहस्यवादी भावनायें भी बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त

की गई हैं। इतने बड़े प्रकृति के रूप में उसे विराट पुरुष के दर्शन करके उसके प्रति जिज्ञासु (रहस्यवाद का प्रथम पग) मनु के रूप में कवि ने कितना मार्मिक लिखा है—

"सिर नीचा कर किसकी,
सत्ता सब करते स्वीकार यहां।
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो, क्या हो, इसका ?
तो भार विचार न सह सकता !

कमायनी की महत्ता

काव्य और महाकाव्य के माप दंड पर तोल कर देखने पर हम जिस परिणाम पर पहुँचते हैं। वह यह है कि भाषा, भाव, कल्पना और चरित्र चित्रण की सभी दृष्टियों से कामायनी का हिंदी क्षेत्र में एक महत्व पूर्ण स्थान है। इसमें प्रसाद के चिन्तन अनुभूति और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। प्रसाद जी की यह बहुमूल्य निधि 'मानवता' का प्रबन्ध काव्य है।

(सम्पादक)

कलाकार प्रेमचन्द और उनकी साहित्य सेवा

हिन्दी साहित्य के उपन्यास सम्राट्, आदर्श कहानी लेखक और भारत के साहित्य के अभिमान प्रेमचन्द जी का जन्म १८८० में एक निर्धन घराने में हुआ था। इनके पिता डाकखाने के कर्मचारी थे। इनका विवाह अल्प आयु में ही हो गया था। पिताजी के अकस्मात् देहान्त के कारण इनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। पाँच रुपये की ट्यूशन फीस को ही

इन्होंने अपनी शिक्षा का सहायक समझा। इनका स्वरूप बड़ा विचित्र था। गोरा रंग, इकहरा बदन, उन्नत ललाट, मोहित करने वाली मुस्कान, मुस्कराहट पर आवरण डालने वाली घनी मूछें। मुस्कान को चमकाने वाली पुतलियाँ और चिन्ता चित्त की रेखायें मस्तक पर दो सलवटें, इसी में इनका व्यक्तित्व स्पष्ट दृष्टि गोचर होता था। ये जीवन-संघर्ष की भट्टी में जलते हुए भी स्वर्ण से निकले। पिता की मृत्यु पर अनेकों मुसीबतें आईं, -पर इन्हें रुला न सकीं। इन्होंने जीवन को संघर्ष की ज्वाला में झोंका—और भी निरखने के लिये—दीप्त होने के लिये। इन्होंने प्रतिकूल परिस्थिति की संकुचित घाटी को पार किया, लड़खड़ाते कदमों से नहीं, दृढ़, अनुराग, उत्साही हृदय और अविचल मन से।

एफ० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। भाग्यवश गोरखपुर के डिप्टी इन्सपेक्टर बने। परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में गांधी जी का प्रभाव इन पर पड़ा। इन्होंने नौकरी छोड़ कर गांधी जी के सिद्धांतों का प्रचार अपने साहित्य द्वारा किया। जो कर्म राजनैतिक क्षेत्र में गांधी जी ने किये वही कर्म साहित्यिक क्षेत्र में प्रेमचन्द जी के करों द्वारा सम्पन्न हुए। अतः ये हिंदी साहित्य के गांधी माने जाते हैं।

ये आदर्श कलाकार थे—जब तक इन्होंने उर्दू की सेवा की तब तक ये उसके सम्राट् बने रहे। जब हिंदी में प्रविष्ट हुए तो हिंदी माता ने वात्सल्य पूर्ण हृदय से इन्हें गले लगाया और अन्त में हिंदी साहित्य के सम्राट् बने, सम्मान, श्रद्धा और स्नेह के स्वर्ण सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। १६०७ में कहानी लिखना आरंभ कर दिया। उस समय 'ज़माना' पत्रिका में इनकी रचनायें प्रकाशित होती रहती थीं। इनके 'प्रेमा' के पश्चात् 'सेवा सदन' के हिंदी अनुवाद के प्रकाशित होते ही उपन्यास क्षेत्र में हलचल मच गई।

,इनसे पूर्व निम्न ३ प्रकार की उपन्यास शैलियां मिलती हैं—

१. देवकी नन्दन खत्री ने 'चन्द्रकांता' आदि तिलस्मी उपन्यास लिखे। जिनमें ऐय्यारी आदि का विशद वर्णन है।

२. किशोरी लाल गोस्वामी ने 'तारा' 'अंगूठी का नगीना' आदि अनेक शृङ्गार रस के ऐतिहासिक और कुछ सामाजिक उपन्यासों की रचना की।

३. गोपाल दास गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने में अपनी कला कुशलता का परिचय दिया।

इन ऊपर लिखित रचनाओं से जनता असन्तुष्ट हो रही थी। इस अस्थायी साहित्य का आगमन आँधी की तरह हुआ और तूफ़ान की तरह समाप्त हो गया। उस समय जनता राजनैतिक क्रांति और सामाजिक सुधारों से परिचित हो चुकी थी। इन्हीं सभी समस्याओं का हल वह साहित्य के रूप में देखना चाहती थी। ऐसी अशान्त अवस्था में हिन्दी को प्रेमचन्द का सहयोग मिला। इन्होंने सामयिक समस्याओं का उत्तर वर्तमान में ढूंढा—अतीत में नहीं। इस प्रकार ये 'युगस्रष्टा' वनकर उपन्यास क्षेत्र में 'कल्प वृक्ष' बन कर हमारे सन्मुख आये।

प्रेमचन्द जी ने जो कुछ लिखा, अपने राष्ट्र के लिये, देश के लिये, अपनी मातृ भाषा के लिये, निर्बलों और निर्धनों के लिये। इनकी वृतियाँ भारतीयता की सच्ची सहायक हैं। हिन्दी साहित्य में तुलसी और भारतेन्दु के पश्चात्त इन्हो को इतना स्थान मिला है कि ये 'साहित्य के गांधी'. 'उपन्यास सम्राट्', 'साम्यवाद के संदेश वाहक', 'ग्राम्य जीवन के अनूठे चित्रकार'•और भारत के गोर्की की उपाधियों से सुशोभित किये गये। ये शरत् और वंकिम थे। इनकी रचनाओं के विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुए। इन्होंने युवक कलाकारों की भटकती हुई कल्पना को आदर्श मार्ग दिखाया। जिससे सैकड़ों नव युवक अपने देश और समाज का कल्याण कर सके।

विशेषतायें

सबसे प्रथम इन्होंने समाज की बुराईयों को दूर करने की चेष्टायें कीं। और उसमें सफल भी हुए। इनकी रचनाएं हमारे सन्मुख दो दर्जन उपन्यासों, और तीन सौ के लगभग कहानियों के रूप में आईं। इसके अतिरिक्त तीन नाटक और कुछ अनुवाद भी किये। इनके उप-

न्यास राजनैतिक और सामाजिक रूपरेखा को लिये हुए हैं। राजनैतिक उपन्यासों में रंगभूमि, गोदान, कायाकल्प आदि के नाम उपयुक्त हैं, गांधी जी के इन शब्दों से ये सहमत थे कि राजनैतिक दासता ही सामाजिक पतन का कारण है। इसके लिये इन्होंने ग्रामों का भ्रमण करके वहां की वास्तविक दशा का अवलोकन किया। 'गोदान' के होरी के रूप में हमें इनकी पूर्ण परछाई दृष्टिपात होती है।

इनकी दूसरी विशेषता हिंदू-मुस्लिम-संगठन और अछूतोद्धार की भावना थी। स्त्रियों की समानता के भी पक्षपाती थे। स्वदेशी प्रेम, चर्खा खादी आदि अनेक बातों में इन्होंने अपनी देश भक्ति को प्रगट किया है।

सामाजिक उपन्यासों में 'सेवा सदन' 'निर्मला' और 'गबन' आदि हैं। ये उपन्यास बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, और विधवा-विवाह की कारुणिक वाणी से भरपूर है। इनमें मुख्यतः नारी के दो रूपों का वर्णन किया है 'विधवा और वेश्या'। यही दोनों रूप आज की जागृति के कारण हैं। इन्होंने यथार्थ के चित्रण में आदर्श की स्थापना की है। विधवा आश्रमों की स्थापना और वेश्याओं को समाज में सम्मान दिलाने की ओर, प्रेमचंद जी ने अपनी कला को, जीवन के लिये मान कर समाज का अतुल उपकार किया है। इसके अतिरिक्त पूंजी-पतियों का अत्याचार, बनियों के हथकंडे, पारस्परिक द्वेष भावना का स्वरूप इनके उपन्यासों में जीता जागता मिलता है। इनका पात्र चित्रण सब से भिन्न हैं। इन्होंने इनका स्वाभाविक चरित्र चित्रण किया है। इस वर्तमान युग का सजीव चित्रण करने के नाते ही इन्हें 'युगसृष्टा' कहा गया है।

कहानी कला

ये उपन्यास सम्राट् होते हुए भी सफल कहानी कार थे। ये उपन्यासों की अपेक्षा कहानी कला में अधिक सिद्धहस्त थे। उपन्यासों की रचना के लिये इन्हें उनका ढांचा स्वयं तैयार करना पड़ा। यह मार्ग पहले इनके लिए बिल्कुल नवीन था। इनकी कहानियां अत्यन्त लोक-प्रिय बनी। इनमें जीवन का

एकाकी चित्रण बड़ी सुन्दरता से पाया जाता है।

भाषा शैली

इनकी भाषा हिंदुस्तानी (सरल हिंदी) का सुंदर रूप है। इन्होंने संस्कृत मयी भाषा का पल्ला छोड़कर बोल-चाल की सरल भाषा का सहारा लिया है। ये वास्तव में मौलवी से पण्डित बने। इनकी भाषा में सामञ्जस्य पाया जाता है। इन्होंने शब्दों के चित्रण करने में बड़ी विशेषता दिखाई है। इनकी भाषा में आकाश गंगा के प्रकाशित नक्षत्रों की झिलमिलाहट नहीं, अपितु करुण कुटीर की दीप-शिखा है।

इतना होते हुए भी इनकी भाषा में कुछ न्यूनता रह गई है। जिस पर आलोचक गण आक्षेप करते हुए कहते हैं कि इन्होंने कहीं भाषा का रूप स्थिर न रख कर साहित्यिकता का गला घोट दिया है। कहीं २ भाषा दुर्बोध और अशिष्ट होगई है– ऐसा होना ही इनके साहित्य का घातक है। प्रेमचंद जी ने अंग्रेज पात्रों द्वारा उनकी ही भाषा का प्रयोग कराया है। क्यों कि ये तो प्रत्येक वस्तु में वास्तविकता को देखना चाहते थे। कहीं २ तो एक समस्या को उपस्थित करने में ये अनेक कथाओं और उपकथाओं में उलझ से गये हैं, जिससे कि चरित्र चित्रण में न्यूनता आगई है। ये पात्रों को आवश्यकतानुसार ही बुलाते हैं। पात्रों की मृत्यु इनके उपन्यासों में कठपुतली का खेल बन गया है।

इन तनिक से दोषों से इनकी महत्ता फीकी नहीं पड़ती है। कुछ दोषों के कारण चंद्रमा को असुंदरता का रूप नहीं दिया जा सकता है। साहित्य सिंहासन की सुशोभन महान आत्मा, अपनी वियोग विह्वल जीवन संगिनी, अनुभव हीन संतान तथा सहस्त्रों प्रशंसक और भक्तों को सिसकते छोड़ 'गोदान' कर, सूर्य मंडल को भेद, ब्रह्म रंध्र पार कर स्वर्ग के प्रतिष्ठित सिंहासन पर जा बैठी। ये सच्चे आदर्श-वादी थे।

(सम्पादक)

'सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास'

सूरदास, तुलसीदास और केशवदास यह तीनों ही महाकवि हुए हैं और तीनों ने ही क्रमानुसार सूरसागर, रामचरित मानस और रामचन्द्रिका महाकाव्य की रचना की है। सूरसागर मुक्तक काव्य है और मानस महाकाव्य है परन्तु केशव की रामचन्द्रिका प्रबन्ध काव्य होते हुए भी मुक्तक सी प्रतीत होती है। सूरदास की भाषा केवल प्रचलित ब्रज है और तुलसी की साहित्यिक अवधी, ब्रज तथा संस्कृत भाषा का पुट लिए हुए है, किंतु केशव की भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित भाषा के के साथ साथ संस्कृत सारगर्भित क्लिष्ट-मयी है। अतः उसे 'कठिन काव्य का प्रेत' नाम से पुकारा जाता है। जहाँ सूर ने सूरसागर में अनेक राग रागनियों को स्थान दिया है तथा तुलसी ने दोहे, चौपाई, कविता, सवैया, छप्पय आदि छंदों का—वहां केशव ने विविध इंद्रवज्रा. वंशास्य, तोटक, उपेन्द्रवज्रा, वंसत-तिलका आदि छंदों का समावेश किया है।

सूरदास का क्षेत्र सीमित है और तुलसी का वितान के समान विस्तृत, पर केशव का क्षेत्र विस्तृत होते हुए भी, विशेष रूप से सफल नहीं हो सका। सूर ने 'सूरसागर' में बाल और यौवन का वर्णन किया है और तुलसी ने 'मानस' में जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर दृष्टिपात किया है, पर केशव अपने पांडित्य प्रदर्शन के कारण जीवन का सर्वांग-पूर्ण चरित चित्रित नहीं कर सके। जहाँ सूर का ध्यान मनोरंजन, मनोविनोद की ओर विशेष है और तुलसी का लोक शिक्षण और लोक मर्यादा की ओर, किंतु केशव की दृष्टि तो केवल आकर्षण मात्र की ओर ही रही है। सूर, तुलसी भक्त कवि है, तो केशव शृङ्गारिक हैं। इसके अतिरिक्त प्रभाव प्रसिद्धि और काव्य की उत्कृष्टता की दृष्टि से सूर और तुलसी दोनों महान हैं। दोनों ने हिंदू समाज और हिंदू धर्म की भलाई की है। दोनों ही की कीर्ति प्रत्येक घर में व्याप्त है। दोनों की रचनाओं का इतना प्रभाव है कि कभी छिन्न नहीं हो सकता। किंतु केशव केवल समाज में ही प्रख्यात है, वे घर घर प्रसिद्ध नहीं हो सके।

हाँ उनके द्वारा हिंदी साहित्य की वृद्धि अवश्य हुई है। अतः 'सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास' यह प्राचीन उक्ति के अनुसार हिंदी साहित्य गगन के यदि सूर सूर्य और तुलसी चंद्र हैं तो केशव एक उज्ज्वल नक्षत्र के समान प्रसिद्ध हैं।

(श्री देवराज)

पंत और उनकी कविता

श्री सुमित्रा नंदन पंत का जन्म अल्मोड़ा जिले के कुमाऊँ प्रदेश में हुआ था। अतः इनका प्रकृति प्रेमी होना स्वाभाविक था। यहां पर ये घंटों प्रकृति के अलौकिक दृश्यों को निहारते हुए अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करते थे। इनका बचपन में ही माता से सहवास छूट गया। इसके उपरांत प्रकृति की शीतल गोद में ही ये युवा हुए। प्रकृति के विषय में पंत के निम्न दृष्टिकोण हैं—

पंत ने प्रकृति को और प्रकृति ने पंत को इतना लुभा लिया है कि इन को अन्य किसी ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिलता—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,

बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूं लोचन।

इन्हें कविता की प्रेरणा भी प्रकृति से ही प्राप्त हुई। प्रकृति को सजीव मान कर इन्होंने हृदय की कोमल और सुंदर भावनाओं की अभिव्यक्ति भी प्रकृति द्वारा की है। प्रियतम के वियोग में ये हृदय की उठती हुई टीस को व्यक्त करने के लिये कहते हैं—

तड़ित सा सुमुखी तुम्हारा ध्यान,
जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण.

खोजते हैं तब तुम्हें निदान ।

उपरोक्त पंक्तियों से उनकी भावना पूर्णतया स्पष्ट और चमत्कृत हो जाती है।

प्रकृति को पंत ने उपमान ही नहीं माना बल्कि इस रूढ़ि का खंडन करते हुए उसे उपमेय मान कर हृदय की भावनाओं को उपमान बना दिया है । प्रसाद की तरह पंत का यह नवीन पग साहित्य में प्रगति चरण कहा जा सकता है। हमारी भावनायें वृक्षों के समान ऊँची हैं। इसके विपरीत ये लिखते हैं—

गिरिवर के उर से उठ उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर ।

प्रकृति के इस चतुर चितेरे ने उसका कोमल और भव्य रूप ही सन्मुख रखा है। ये उसे नारी रूप में देखते हैं। जब ये उसके मधुर गीत सुनते हैं तो प्रश्न कर उठते हैं—

'कहां कहां है बालक विहंगिनी.........'

पंत का जितना भी प्रकृति वर्णन है वह सरल, सुकुमार और सादगी लिए हुए है, जैसे—

सरल पन ही था उसका मन,
निराला पन ही आभूषण ।

प्रकृति का स्वाभाविक चित्र जिस कुशलता से पंत ने खींचा है, वह और किसी ने नहीं। संध्या की कितनी अच्छी उपमा इन्होंने दी है—

"बांसों का झुरमुट,
संध्या का झुटपुट।
हैं चहक रहीं चिड़ियां-टीं, टीं-टुट, टुट।"

संगीत की ध्वनि ने शब्दों में सचमुच जान डाल दी है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानो संध्या का एक सजीव चित्रण किसी चतुर चित्रकार ने कर डाला है या किसी मूर्तिकार ने शब्दों की छेनी लेकर संध्या की सजीव प्रतिमा इन निर्जीव कागज़ों पर खड़ी कर दी है। कला की सफलता यही है और कलाकार होने के नाते यही पंत जी की सफलता है। जिसने उन्हें साहित्याकाश के उच्चतम स्तर पर पहुँचा दिया है।

(सुश्री राधा कुमारी सक्सेना)

मैथिलीशरण गुप्त और उनकी कविता

आधुनिक प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म चिरगांव ज़िला झाँसी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। इनके पिता सेठ रामचरण जी परम वैष्णव रामोपासक भक्त थे। गुप्तजी ने रामभक्ति की भावना पैतृक सम्पत्ति के रुप में पाई है। ये तीन भाई हैं। इनके बड़े भाई तो विशेष साहित्यिक न थे। किंतु उनके छोटे भाई सिया राम शरण जी गुप्त ने अच्छी ख्याति पाई है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इस प्रकार से उनके कविता गुरू थे। वे इनकी प्रतिभा के विकसित होने में अधिक सहायक हुए हैं। इस बातको गुप्तजी ने नीचे के शव्दों में स्वयं ही स्वीकार किया है :—

"करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद।
महाबीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद॥"

गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं में तो राष्ट्रीयता और उपदेशात्मकता का प्राधान्य रहा। किंतु उत्तरोत्तर उनकी प्रतिभा के विकास के साथ उनकी रचना में कलात्मकता बढ़ती गई है। गुप्तजी की "भारत भारती' ने बड़ी लोक प्रियता प्राप्त की थी। इस प्राचीन भारतीय गौरव के लिए रोदन है और भविष्य के उत्थान के लिए आशा का प्रकाश। 'भारत भारती' ने जितना कार्य राष्ट्रीय जागरण में किया है, इतना

कार्य शायद ही किसी हिंदी पुस्तक ने किया हो।

'साकेत' भी राष्ट्रीय भावनाओं से पूरित है। आज के राष्ट्रीय युवक के स्वर में ही भरत की वाणी कूक रही है।

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिंधुपार वह विलख रही है व्याकुल मन में।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके,
अपनी मिथ्या भरत नामको गमन धरके।

आज हम भारत के समान ही भारत—लक्ष्मी को सिंधु-पार व्याकुल तड़पती देखकर विकल हो उठते हैं।

'साकेत' वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं का भी चितेरा है। अछूतोद्धार, विधवादशा-सुधार आदि का भी गुप्त जी ने अपनी रचनाओं में समावेश किया है।

इस का भी निर्णय हो जाय,
नहीं अछूत मनुज क्या हाय?
अपमानित अवनत वे दीन,
क्या पशुओं से भी हैं हीन?
मरें भले होवें वे हाल,
तो भी इन की नहीं सम्भाल।
हिन्दू-विधवा की शुचि मूर्ति,
पवित्रता की सकरुण मूर्ति।
कर दें खल छल-बल से भंग,
तो मरने का कौन प्रसंग?
किस पर है इस का दायित्व,
यही तुम्हारा है न्यायित्व?

उपरोक्त पंक्तियों में हिंदू-समाज के पतन के दो मुख्य कारण दिए गए हैं, और अछूतोद्धार तथा विधवा दशा-सुधारका संकेत किया गया है। 'किसान' नामक प्रबन्ध काव्य में भारत के जर्जरित किसान की दीन-हीन दशाका बड़ा ही सजीव चित्र खींचा गया है।

आपकी कविता में नवीनता, आकर्षण, कला और जीवन लाने का श्रेय छायावाद और रहस्यवाद को ही है। ये दोनों वाद वर्तमान युग के विशेष आकर्षण हैं।

बड़े यत्नसे माला गूंथी,
किसे इसे पहनाऊं।
अरे खोजती हूँ मैं किसको,
मैं ही क्यों न पहन लूं इसको।
श्रम करके गूंथा है जिसको—
पर निज मुख से निज का चुम्बन,
कर किस भांति अघाऊँ ?

उपरोक्त पंक्तियों में प्रियतम की खोज का वर्णन है। प्रियतमा अपने करों द्वारा गूथी गई माला को स्वयं ही पहन लेना चाहती है। क्योंकि अब दोनों का रूप एक हो गया है। और एक हो जाना ही रहस्यवाद है।

कविता सुन्दरी को संकुचित बन्धनों से मुक्त कर स्वस्थ खुले हुए वातावरण में लाने का श्रेय भी इसी 'मैथली युग' को है। कविता कामिनी के शरीर से फटे पुराने चीथड़े उतार दिये गये हैं और उसे उपयुक्त वस्त्र पहनाये गये हैं। आभूषणों के भार को दूर कर उसके प्राकृतिक सौंदर्य को बढ़ाने की चेष्टा की गई है।

'यशोधरा' में गीत काव्य की प्रवृत्ति का सुन्दर समावेश है। यह गीत काव्य का युग होने के कारण—इसमें 'यशोधरा' की रचना की गई है।

'यशोधरा' के प्रत्येक गीत में क्रन्दन है, इसके प्रत्येक शब्द में सिसकियां है, इसका प्रत्येक अक्षर करुणा के सागर में गोते खा रहा है।

यशोधरा राहुल को सुलाती हुई कितने मधुर स्वर में गा रही है—

तेरी सांसों का निस्पन्दन,
मेरी तप्त हृदय का चन्दन,
सो, करलूं मैं जी भर क्रन्दन,

सो, उनके कुल नंदन सो।
सो, मेरे अंचल धन सो।

हृदय में वेदना की ज्वाला को जलाये यशोधरा राहुल को सुला रही है।

यशोधरा की करुणा पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है और उसके लिये रोना और गाना एक हो जाता है।

आओ हो वन-वासी
अब गृह-भार नहीं सह सकती,
देव तुम्हारी दासी।

राहुल पल कर जैसे तैसे,
करने लगा प्रश्न कुछ ऐसे,
मैं अवोध उत्तर दूँ कैसे ?
वह मेरा विश्वासी।

जल में शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते हम न तरसते,
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी।

उपरोक्त पंक्तियों में कितनी साधन हीनता और विवशता है। गृह-भार अब यशोधरा को असह्य हो गया है। दो दो मेघ बरसने पर भी वह प्यासी की प्यासी है।

इस युग की छाप मैथिलीशरण जी की कविता में व्याप्त है। अतः आप वर्तमान कवियों में सबसे अधिक लोक प्रिय कलाकार हैं।

उपरोक्त सब पंक्तियों से स्पष्ट है कि गुप्त जी ने अपने युग की सभी शैलियों का प्रयोग और प्रवृत्तियों का चित्रण किया है। इसलिये इन्हें इस युग का प्रतिनिधि कवि भी कह सकते हैं।

(सम्पादक)

———

कबीर और उनके सिद्धान्त–रहस्यवाद

१४वीं शताब्दी का वह युग जब कि कार्यपरता से उदासीन रहने वाली हिन्दू जाति अपनी आलस्य और मोहवृत्ति के कारण अपनी स्वतंत्रता को दासत्व के निंदनीय कुटिल बंधन में बांध चुकी थी। पूर्वजों के वीरत्व की स्मृति मृत-प्राय हिंदू जनता में अपना प्रभुत्व न स्थापित कर सकी और शौर्य के साथ साथ वीर गाथाओं की अंतिम ध्वनि भी रणथंभोर के पतन के साथ सर्वदा के लिये लोप हो गई। विवशता से जकड़े हुए भारत ने यवनों का स्वागत किया। हिंदू धर्म पर कुल्हाड़े चलने आरम्भ होगये। मंदिरों का स्थान मस्जिदों ने ले लिया और पूज्य महा पुरुषों को अपमान जनक शैली से पुकारा जाने लगा। भारत के गौरव गुमानों को निर्दयता पूर्वक कुचल डाला गया और इस निर्बल हिंदू जाति ने सब कुछ देखा। पौरुष को खोई हुई जाति ने अपनी सान्त्वना पाने के लिये भगवान की शरण में जाना ही उचित समझा। जनता की रुचि इस ओर देख कर काल के प्रतिनिधि कवियों ने उनके मन को शांति देने के लिये भक्ति का एक नया मार्ग निकाला। शासक और शासितों को संगठन का पाठ पढ़ाने और 'राम' रहीम को एक करने के अभिप्राय से उस समय के पारखी कवियों ने दोनों के संमुख ईश के प्रेम स्वरुप को रक्खा और भेद भाव को मिटाने की चेष्टा की। कबीर जी इस युग के प्रधान कवियों और समाज सुधारकों में से थे। अब हम जनता पर प्रभुत्व जमाने वाले कबीर जी के सिद्धांतों का संक्षेप में परिचय देते हैं।

इनका प्रमुख सिद्धान्त 'ईश' की एकात्मवादिता है। वही सृष्टि का निर्माणकर्त्ता, अनादि और अनंत है। कबीरजी का 'ईश' सर्व धर्म गत है और अखिल विश्व व्यापक है। वह निराकार है। अतः पत्थर की मूर्त्ति को 'ईश' मानकर उसे भोग लगाना कबीरजी के विचार में केवल हास्यास्पद है। इन्होंने अपने 'ईश' को 'राम' 'हरी' 'शार्ंगपाणि' यादवराय' 'गोपाल' 'साहब' 'राउर' 'खसम' आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया है। कुछ लोगों का मत है कि यह रामानन्द जी के शिष्य थे। अतः इनका उपरोक्त शब्दों का प्रयोग करना स्वाभाविक ही था। परंतु कबीर जी ने स्पष्ट कह

दिया है कि इनके 'राम' वैष्णव सम्प्रदाय के दशरथी राम से सर्वथा भिन्न हैं। इनका 'राम' से अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है। जैसा कि उनकी कविता से स्पष्ट है।

"जाहि राम को कर्त्ता कहिए तिनहुँ को काल न राखा"।

इस उपरोक्त पंक्ति से स्पष्ट है कि कबीर जी के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय में बसने वाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह किसी विशेष लोक का निवासी नहीं है। कबीर जी की इस भावना का मेल हिंदुओं की ब्रह्म भावना से है; परंतु कहीं २ कबीर जी की भावना इस से भी अधिक ऊंची है। अतः इन्होंने राम को निर्गुण और सगुण दोनों से ऊपर मानकर निम्न पंक्तियाँ कही हैं—

'अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा।'

इस से सिद्ध होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनंत प्रकाश' का ही दूसरा नाम है। क्यों कि ये स्वयं रहस्यवादी थे ? परंतु उपरोक्त पंक्तियों में इनके ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रगट होता है।

निराकार सिद्धांत की आरसी—कबीर मूर्त्तियों के कट्टर विरोधी थे। मूर्त्ति की पूजा करना मूर्खता समझते थे। ये ऐसी पूजा करने वालों को ढोंगी शब्द की उपाधि देते हैं। अतः बड़े व्यंगपूर्ण शब्दों में इन्होंने कहा है—

"पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजुँ पहार"

कबीर जी का भक्ति पर अटल विश्वास है। अतः ये इसे ही ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हैं। इनका कहना है कि वेदों और उपनिषदों के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता है। वास्तव में पंडित वही है, जो कि प्रेम के ढाई अक्षरों का पाठ पढ़ चुका हो। ज्ञानी पुरुष गर्व में रंगा रहने के कारण माया के चक्कर में भटकता फिरता है, परन्तु भक्त गर्व हीन होने के कारण शीघ्र ही 'ईश' तक पहुंच जाता है।

इनका भक्ति मार्ग वैष्णव मार्ग से भिन्न है। वैष्णव मार्ग (सगुण मार्ग) राम या कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही 'ईश' तक पहुंचने का उपदेश देता है। इन्होंने सूर और तुलसी की तरह लोकादर्श की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं की थी। इन्होंने तो सदाचार और ब्रह्म ज्ञान के रूखे सूखे उपदेशों द्वारा भक्ति मार्ग की व्यवस्था करनी चाही। इसी कारण से सगुण भक्ति के कवियों के समान इनमें मधुरता का आभास नहीं है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में कृषक वर्षा का नहीं, वरन् ताप का भूखा होता है; उसी प्रकार कबीर जी भी 'चरम आनंद' प्राप्त करने के लिये कष्ट-साधना के भूखे थे। सगुण भक्ति के कवियों में भावुकता और सहृदयता का चिन्ह मात्र भी नहीं है। परन्तु कबीर में 'ईश' की भावना का 'माधुर्य भाव' अवश्य विद्यमान है। इन्होंने एक स्थान पर कहा भी है—

"हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया"

"राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की जिज्ञासा और मार्ग की कठिनता दर्शाती है, और कभी विरह - वेदना का अनुभव करती है।

कबीर जी की शिक्षा का माध्यम आत्मज्ञान प्राप्त करना है। इनका विचार है कि रूपात्मक दृश्य जल के घड़े के समान हैं, जिसके बाहर भी 'ईश वारि' है और भीतर भी। बाह्य रूप की समाप्ति पर जिस प्रकार बाहर और अन्दर का जल मिल कर एक हो जाता है, उसी प्रकार से इस लोक में से माया का पर्दा हट जाता है। इसके उपरान्त आभ्यन्तर का ब्रह्म वाह्यस्थ ब्रह्म में समा जाता है।

ऐसा यह संसार है जस सेमर का फूल।
दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल॥

उपरोक्त पंक्तियों के द्वारा कबीर जी कहते हैं कि मानव माया में पड़ा हुआ अपने ही स्वार्थ की सोचता है, अतः वह परमात्मा तक तक नहीं पहुंच पाता। माया ममता की पोषक है। अतः ज्ञानी पुरुष

माया का त्याग आवश्यक बताते हैं।

कबीर जी भिन्न भिन्न धर्म-मतावलम्बी मानवों को एक ही समान समझते हैं। इनका विचार है कि वर्ण-विभाग समाज की कृति का नमूना है। चांडाल और ब्राह्मण में केवल कर्म का ही भेद है। ईश्वर ने सबको एक ही समान उत्पन्न किया है। उन्नति और अवनति केवल व्यक्तिगत वुद्धि एवं प्रतिभा का ही परिणाम है!

कबीर जी कर्मकांड के आडम्बरों को हीन समझते हुए सत्य के उपासक थे। ये किसी भी नामधारी बन्धन में नहीं फंसे। इन्होंने हिन्दुओं की जाति-पांति, छूआ-छूत इत्यादि और मुसलमानों की बुरी रीति-रिवाजों की घोर निन्दा की है।

ये उन ज्ञानी पुरुषों में से नहीं थे, जो हाथ पांव समेट कर पेट भरने के लिये समाज पर भार बनकर छा जाते हैं। ये तो सर्वदा ही परिश्रम का सहारा लेकर ही सब कार्य करते रहे।

कबीर जी का हिन्दी साहित्य में स्थान

कबीर जी की काफ़ी से अधिक रचना रहस्यवाद से लिप्त है। इनकी भाषा में अक्खड़ता होने के कारण काव्य की रोचकता प्रायः समाप्त सी हो गई है। इस पर दार्शनिक पदों का बाहुल्य है। इनमें महाकवि के सभी लक्षण विद्यमान हैं। ये प्रतिभा के भण्डार, मौलिकता के पुजारी, ओजता के स्वामी और गाम्भीर्य आत्मा हैं। इनकी रचनाओं में इनका हृदय प्रतिबिम्बित है, अपनी निजी कल्पना का जीता जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है। यदि आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता से ऊंचा माना जाये तो कबीर का स्थान हिन्दी साहित्य गगन में वही है, जो सूर और तुलसी का है। रहस्यवादी कविगण इन का स्थान जायसी से ऊंचा मानते हैं।

कबीर जी का रहस्यवाद

इस सृष्टि के चक्र का संचालन एक अद्भुत अज्ञात शक्ति के द्वारा किया जाता है। इस अज्ञात शक्ति का मानव से क्या नाता है, इसी

का ज्ञान रहस्य का अंतिम लक्ष्य है। इसके सम्पर्क में आने तथा इसकी सत्ता को पकड़ने की जिज्ञासा का उत्पन्न होना ही रहस्यवाद की सीढ़ी पर पैर रखना है। रहस्यवाद हरी हरी मुलायम घास नहीं, वल्कि एक पाषाण है, जिसको थोड़ा सा तोड़ने पर भ्रमात्मक छोटे छोटे पत्थर निकल आते हैं। उनमें से छांटना सरल नहीं है। मानव प्रारम्भ से ही किसी न किसी वस्तु की खोज में फिरता है, सहसा उसे किसी ज्योति द्वारा पत लगता है कि ज्ञान और बुद्धि उसकी राह देख रहे हैं। उस समय वह मानव जीवन की वास्तविकताओं को भूल जाता है और मानसिक क्षेत्र की छोटी से छोटी प्रवृत्तियाँ उसको खींचकर ले जाती हैं। इसके उपरांत उसकी आत्मा ज्योति से चमक उठती है और वह अपने पूर्व जन्म को बिल्कुल भूल जाता है। इस दशा पर पहुंचने के उपरांत ज्ञानी पक्का रहस्यवादी बन जाता है। यह संसार की अनित्यता का दर्शन बड़े अनोखे ढंग पर करते हैं—

माली आवत देखि के कलियाँ करें पुकारि।
खिली-खिली तो चुन लई अब काल्हि हमारी बारि॥

कबीर जी ब्रह्म के जिज्ञासु हैं। जिज्ञासा का सम्बंध आत्म-ज्ञान से होता है। और जब जिज्ञासु ज्ञान का चोला पहन कर कवि बनना चाहता है, तो स्वाभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर झुक जाता है। और फिर उसे विश्व की प्रत्येक वस्तु दूसरी से अखंड संबंध से जकड़ी हुई दिखाई देने लगती है। वह खिले हुए पुष्पों में रमणी के सौंदर्य में, निखरे हुए चंद्र बिम्ब में अपने प्रियतम के सौंदर्य का, स्नेहपूर्ण चुम्बन आदि का साक्षात्कार करता है।

रहस्यवादी निम्न कोटि के होते हैं:—

१ भक्ति-उपासक—इनके विचार में वियोगी बनकर ईश्वर का चिंतन करना ही सफलता की कुञ्जी है। आत्मिक एवं शारीरिक बल आदि इसके साम्य के लक्षण हैं।

२ दार्शनिक—ये वैरागी जीवन को घर पर ही बिताने के

पक्षपाती हैं।

३ प्रकृति उपासक—ये लोग प्रकृति में ही ईश्वर का साम्राज्य देखते हैं। इनका विचार है कि मनुष्यात्मा प्रथम प्रकृति में 'ईश' का अन्वेषण करती है। उनकी सबसे प्रथम पूजा प्रकृति पूजा ही है। परन्तु कबीर जी इसको नहीं मानते हैं।

४ प्रेमोपासक—इनका विचार है कि अज्ञात अर्थात् ईश्वर से मिलने का एकमात्र उपाय 'प्रेम' है। इस धारा के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य और अनन्त गुण सम्पन्न प्रियतम के रूप में करते हैं। सूफ़ी मत भी इसी बात का समर्थन करता है। कबीर जी भी इस धारा से बाहर नहीं हैं। इनके प्रेम में ममत्व नहीं, वरन् आत्म-समर्पण है। इसी भावना के 'ईश' से साक्षात्कार होने पर कबीर जी कहते हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं ही होगई लाल॥

उपरोक्त पंक्तियों में प्रेम की शुद्धता और उच्चतम अवस्था का कितना सुन्दर रूप दिखाया गया है। और अन्त में कबीर जी कितने मार्मिक शब्दों में कह उठते हैं कि 'हे ईश ! अनिर्वचनीय आनन्द की यह भीनी झलक क्या कभी हम भी देख सकेंगे ?'

(सम्पादक)

———

हिन्दी साहित्य की काव्य-कोकिलाएं

मीरा हिंदी काव्य क्षेत्र की सर्व-प्रथम सुकुमार बेलि है। इनका जन्म सम्वत् १५६० के आस पास बताया जाता है। इनका शुभ विवाह १५७३ में भोजराज के साथ सम्पन्न हुआ था। बचपन की कृष्ण-भक्ति ने पति की मृत्यु के उपराँत पूर्ण वैराग्य का पथ-प्रदर्शित कर दिया। इनकी प्रेम और भक्ति की कवितायें बहुत सुन्दर हैं।

इनकी कविता कृष्ण की तड़प और हृदय की व्याकुलता से पूर्ण ओत पोत हैं। अतः प्रेम अलौकिक होते हुए भी कुछ सविषय होगया है और जब तक कविताओं में एन्द्रियता न आयेगी, तब तक कविता वास्तविक कविता नहीं कही जा सकती।

आऊं आऊं कर गया सांवरा,
कर गया कौल अनेक।
गिनते-गिनते घिस गई ऊँगली,
घिस गई ऊँगली की रेख॥

उपरोक्त पंक्तियाँ प्रतीक्षा का सुन्दर चित्रण कर रही हैं।

रैण अन्धेरी विरह घेरी तारा गिणत निसी जात,
मार कटारी मैं मरूँ रे करूंगी अपघात।

हृदय की विरहाग्नि के बढ़ जाने पर ये स्वयं कटारी से आत्म घात करना चाहती हैं। उपरोक्त पंक्तियों में पीड़ा का दर्शन कराया गया है।

सुना जाता है कि मीरा भक्ति में विह्वल हो गाते-गाते श्री कृष्ण की मूर्ति में ही समागई थी।

'ताज' नामक यवनि ने भी काव्य क्षेत्र में बहुत अच्छा स्थान प्राप्त किया है। इनका जन्म सम्वत् १६५२ में बताया जाता है। ये पंजाब की रहने वाली थीं। और परम वैष्णव और कृष्ण की भक्त थीं। इनकी कविता सरसता और पंजाबी हिंदी का सम्मिश्रण लिये हुए है।

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाजहू भुलानी तजे;
कलमा कुरान सारे गुगन कहूँगी मैं।
श्यामला सलोना सिर ताज सिर कुल्ले दार,
तेरे नेह दाग में विदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नंद के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
ताए नाल प्यारे हिंदुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

इनकी कविताओं की पंक्तियों से स्पष्ट है कि ये कृष्ण के हाथ अपने को बेच चुकी हैं और उनके साथ रह कर सब कुछ सहने को तैयार हैं।

आलम की पत्नी 'शेख' ने भी हिंदी कविता क्षेत्र मेंअपनी वाणी के अस्पुट स्वर को खोला है। ये 'रसिक बिहारी' महाराज नागरी दास की दासी 'सहजो बाई' महात्मा चरनदास की शिष्याा; बाघेला विष्णुप्रसाद की कुंवरि भी अच्छी कवित्री हो गई हैं।

'लली' की कवितायें भी बड़ी सरस, मधुर और प्रसाद गुण पूर्ण होती हैं। आपकी कवित्ताओं में कविता के सभी गुण पाये जाते हैं। प्रायः सभी उच्चकोटि के हिंदी पत्रों में आपकी कवितायें प्रकाशित होती रहती हैं।

'महादेवी वर्मा' की कविताओं ने इस समय सभी कविता प्रेमियों का ध्यान अपनी ओर अकर्षित किया है। आपका हृदय विरहाग्नि से झुलसित है।

क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो अब देव अरे यह,
मेरा मिटने का अधिकार।

आपकी यही चिर अभिलाषा है कि हृदय की वेदना सदा बनी रहे। और प्रियतम के पथ में सदा छलकती आँखें बछती रहें।

बिछाती हूँ पथ में करुणेश,
छलकती आँखें हंसते ओठ ।

यही वेदना आपकी रहस्य भावना को जागृत कर रही है । और आप पीड़ा में ही उस (निष्ठुर प्रियतम) को पाने का यत्न करती हैं ।

आपकी कविताओं के कई सुन्दर संग्रह भी निकल चुके हैं । 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' सींमा आदि उनमें मुख्य हैं । इनका वृहद् संग्रह 'दीपशिखा' और 'यामा' नाम से प्रकाशित हुआ है ।

सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता का क्षेत्र लौकिक है । आपकी कविता में तो लोक जीवन, देश भक्ति की ही भावना और घर गृहस्थ के चित्र मिलते हैं । असहयोग युग में देश के लिये जाने वाले प्रवासी को विदा करते हुए कितना सुन्दर कहती हैं—

तुम मुझे पूछते हो जाऊं,
मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो ?
जा कहते रुकती है ज़बान,
किस मुंह से तुमसे कहूँ रहो ?

उपरोक्त पंक्तियों में देशभक्ति का एक ओर तकाज़ा है और दूसरी ओर हृदय की पुकार ! न भेजते ही बनती है और न रोकते ही ।

मैं बचपन को बुला रही थी,
बोल उठी बिटिया मेरी ।
नन्दन बन सी फूल उठी यह,
छोटी सी कुटिया मेरी ।

उपरोक्त पंक्तियों के द्वारा आप अपनी बिटिया में खोया हुआ बचपन पा जाती हैं ।

होमवती जी की कविताएं बड़ी हृदयग्राही और वेदना पूर्ण होती हैं । आपकी कविता की भाषा सरस, मधुर, और प्रसाद गुण युक्त है । आपकी कविता वैराग्य और एकाँतता से परिपूर्ण है । आपकी कविता में वेदना, विवशता का सामंजस्य है ।

पल पल पड़ पीड़ा के पाले, छिल जाते जब उरके छाले,
सिसक सिसक मन रो उठता है, कैसे धीर बंधाऊँ सजनी ?

मन कैसे समझाऊं सजनी ?

आपकी कविता में सच्ची अनुभूति, हृदय की कसक और अभाव की पीड़ा का संदेश है। अपने जीवन की गहराइयों को बहुत सीधे ढंग से व्यक्त करती हैं।

'तारा पाण्डेय' की कवितायें सरल सुकुमार भावनाओं और प्रेम-जिज्ञासा से ओत पोत हैं। तनिक इन काव्य नारी को निहारिये—

वही मेरी पाठशाला,
मैं बनाती सुमन माला।
गान गाती मधुप बाला,
पा गई शिक्षा अजानी।
सजनि यह छोटी कहानी॥

आपकी भावुकता और विकास को देखकर हिंदी जगत को काफ़ी आशाये हैं।

राजकुमारी चौहान भी आधुनिक नारी-कवियों में बहुत प्रसिद्ध हैं। आप की कवितायें प्रसाद गुण से पूर्ण हैं। और इस सक्रांति काल में नारी जाति की सेवा करती हुई हिंदी जगत को अपनी अमूल्य निधि से पूर्ण कर रही हैं।

(सम्पादक)

हिन्दी कहानी—एक सर्वांगीण अध्ययन

आज के साहित्य पर एक विहंगम दृष्टिपात करने से हमें यह ज्ञात होता है कि आज का साहित्य कथा कहानियों से पूर्ण है और यह कहने में भी अतिशयोक्ति न होगी कि साहित्य जगत में आज कल

कहानियों की बाढ़ सी आई हुई है। कहानियों के इस बाहुल्य का स्पष्ट कारण है, समयाभाव या दूसरे शब्दों में हमारी व्यस्तता। आज का युग इतना व्यस्त है कि लम्बे उपन्यास या लम्बी कहानियाँ पढ़ने का समय एक साधारण पाठक को नहीं मिलता। प्रत्येक पत्र-पत्रिका में एक न एक कहानी अवश्य होती है और सब से बड़ी बात तो यह है कि आज कल पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले "क्रमशः" उपन्यास ही अधिक पसन्द किये जाते हैं। छोटी कहानियों की ओर पाठकों के झुकाव का कारण किसी हद तक मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक है। लगातार काम करते रहने के बाद मनुष्य में यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह मनोरंजन प्राप्त करे। मनोरंजन इसलिए कि अनवरत कार्य का श्रम-भार किसी सीमा तक कम हो जाये और वह कुछ शांति और सन्तोष का अनुभव कर सके, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे पास समय कम है, हमारी यही धारणा रहती है कि हम कम से कम समय में अधिक से अधिक मनोरंजन प्राप्त करें और कहना न होगा कि केवल एक मात्र कहानियां ही मनोरंजन का ऐसा साधन प्रदान कर सकती हैं। रात रात भर खेले जाने वाले नाटकों, थियेटरों, नौटंकियों आदि की अपेक्षा दो-ढ़ाई घंटों में समाप्त हो जाने वाले सिनेमा ही आज कल अधिक पसन्द किये जाते हैं।

फिर यह बात भी नहीं है कि कहानियां केवल इसी युग की या पिछले सौ दो सौ वर्षों की ही देन हैं। कहानियों का इतिहास इतना ही पुराना है जितना आज का धर्म और संस्कृतियां। संस्कृत के आदि ग्रन्थों में हमें असंख्य कहानियां मिलती हैं। ये कहानियाँ अधिकतर धार्मिक उपदेशों का समर्थन, प्रति-पादन तथा प्रचार करने के उद्देश्य से ही लिखी गई थीं। ईसाइयों, यहूदियों और अन्य धर्मावलम्बियों के आदि ग्रन्थों में कहानियाँ प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि काल से ही कहानियाँ चली आरही हैं। कहानियों की आयु के बारे में हम कह सकते हैं कि कहानियों की आयु हमारी नानियों, दादियों, पर-दादियों आदि की आयु से भी सहस्त्र गुना अधिक है, क्यों कि जो कहानी हमें हमारी दादी

ने सुनाई, वह उसने अपनी नानी से सुनी थी और उसकी नानी ने अपनी परदादी से और उसकी परदादी ने अपनी दादी से और इसी प्रकार कहानियों का यह क्रम अनवरत रूप से अनन्त काल से चला आरहा है।

कहानियों के इस ऐतिहासिक रूप को देखते हुए हम उन्हें कहानियां न कह कर 'आख्यायिका' कह सकते हैं। उन आख्यायिकाओं के भी दो भाग किये जा सकते हैं: एक तो राजा रानी की तथा ऐसी ही कहानियाँ और दूसरी पशु पक्षियों की कथायें। महा कवि बाण भट्ट की "कादम्बरी" प्रथम श्रेणी की आख्यायिकाओं में रखी जा सकती है और हितो-पदेश की कहानियां दूसरी श्रेणी की आख्यायिकाओं में। इन आख्यायिकाओं में किसी भी नियम का पालन नहीं किया जाता था और न ही उनका कोई निश्चित स्वरूप होता था। ये कहानियाँ केवल एक उद्देश्य को लेकर चलतीं थीं और वह उद्देश्य था मनोरंजन या शिक्षा।

किन्तु आधुनिक युग में कहानियों का रूप ही पूर्णतः बदल चुका है। अनेक नियमों के अन्तर्गत ही कोई कहानी लिखी जाती है। इन नियमों को 'कहानी के अंगों' के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर संक्षेप में इन्हीं कहानी के अंगों पर विचार किया जाना अनुपयुक्त न होगा।

कहानी के ६ अंग माने जाते है। (१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) चरित्र चित्रण, (५) उद्देश्य, (६) भाषा, (७) भाव, (८) शैली।

कहानी में किसी का पूर्ण जीवन कथा वस्तु के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, अपितु पूर्ण जीवन का एक भाग ही कहानी के अन्तर्गत हमारे संमुख प्रस्फुटित होता है। कथा वस्तु में तार-तम्य और गठन आवश्यक हैं। जहां तक पात्रों का प्रश्न है—कहानी के पात्र संख्या में कम से कम और अधिक से अधिक स्थायी और प्रभावोत्पादक होने चाहिये यद्यपि वर्तमान युग की लघु गाथाओं में पात्रों के स्थायित्व और उनके प्रभावोत्पादन को गौण रूप किया

जाता है किंतु फिर भी सारे पात्रों में उन्हें एक या दो पात्र स्थायी और प्रभावोत्पादक रखने पड़ते हैं जिनके इर्द-गिर्द कहानी घूमती है। अपने पात्रों में सजीवता लाने के लिये और कहानी को मार्मिक बनाने के लिये लेखक को कथोपकथन का आश्रय लेना पड़ता है। अच्छी कहानी वही मानी जाती है जो वर्णन की अपेक्षा कथोपकथन का आश्रय लेकर आगे बढ़ती है। चरित्र-चित्रण तो कहानी की जान ही होता है। अपने पात्र को पूर्णतया उभार कर सामने रख देना ही सफल कहानी लेखक की कसौटी है। सब से अधिक ध्यान कहानी लेखक को कहानी का उद्देश्य स्पष्ट करने की ओर रखना चाहिए। भाषा, भाव, और शैली तीनों ही लेखक के व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते हैं। उसके अन्तर्निहित गुणों को प्रस्फुटित करते हैं और कहानी को सुरुचिपूर्ण और प्रभावोत्पादक बनाते हैं। भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सर्व ग्राह्य हो और जिसे समझने के लिये शब्दकोष या निर्देशक की आवश्यकता न पड़े। भाव बिल्कुल स्पष्ट यानि Clearcut होने चाहियें, और साथ ही ऐसे हों जो पाठकों को थोड़ा सा सोचने का मसाला दें। शैली कैसी भी हो किंतु उसमें प्रवाह होना चाहिए—ऐसा प्रवाह जो पाठक की चित्तवृत्ति को इधर उधर भटकने का एक भी अवसर न दे और उसे पूर्ण रूप से कहानी में ही मग्न कर दे।

बंगला साहित्य से परिचय होने से पूर्व हिंदी साहित्य में मौलिक कहानियों का सर्वथा अभाव था। हिंदी की पहली मौलिक कहानी श्री बद्रीनारायण चौधरी ने लिखी थी। उनकी कहानी "इन्दुमती" ने साहित्य के संमुख एक नया मार्ग खोल दिया और उसके बाद तो, कहना न होगा कि हिंदी में मौलिक कहानियों की भरमार होगई।

हिंदी कहानियों पर पड़े पाश्चात्य प्रभाव से भी हम अनभिज्ञ नहीं रह सकते। पश्चिमी कहानियों ने हमारी शैली, भाव व्यंजना, प्रवाह, भाषा, सभी कुछ पर प्रभाव डाला। गोर्की, थैकरे, एच० जी० वेल्स, हार्डी, अनातोले फ्रांस आदि पश्चिमी कहानी-कारों का प्रभाव हम स्पष्ट देखते हैं और उससे इन्कार भी नहीं कर सकते।

इस प्रकार बंगला और पश्चिमी कहानियों के संपर्क में आकर

हमारे कथा-साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की।

हिंदी में लिखी जाने वाली कहानियों को हम निम्न कोटियों में रख सकते हैं।

(विभाजन–चक्र पृष्ठ ८३ पर देखें)

यदि कहानियों के इन विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला जाय तो लेख का कलेवर बहुत बड़ा हो जायेगा, किंतु फिर भी आज की कहानियों की धाराओं के बारे में कुछ कहना अनुपयुक्त न होगा।

कुछ कहानियाँ आजकल ऐसी होती हैं, जो किसी घटना से प्रारम्भ की जाती हैं और वार्तालाप के द्वारा बड़ी तेजी से मनोभाव के प्रकाशन में ही समाप्त हो जाती हैं। कुछ कहानियों में हमें मिलता है घटनाओं का विशद-चित्रण और अन्त में किसी मानसिक स्थिति का प्रगटी-करण। ऐसी कहानियां मनो-वैज्ञानिक कहानियां भी कही जा सकती हैं। कुछ कहानियां इन दोनों के बीच की श्रेणी पर लिखी गई हैं। इनमें घटनाओं, वार्तालापों और मानसिक उद्वेगों का एक साथ चित्रण हमें देखने को मिलता है।

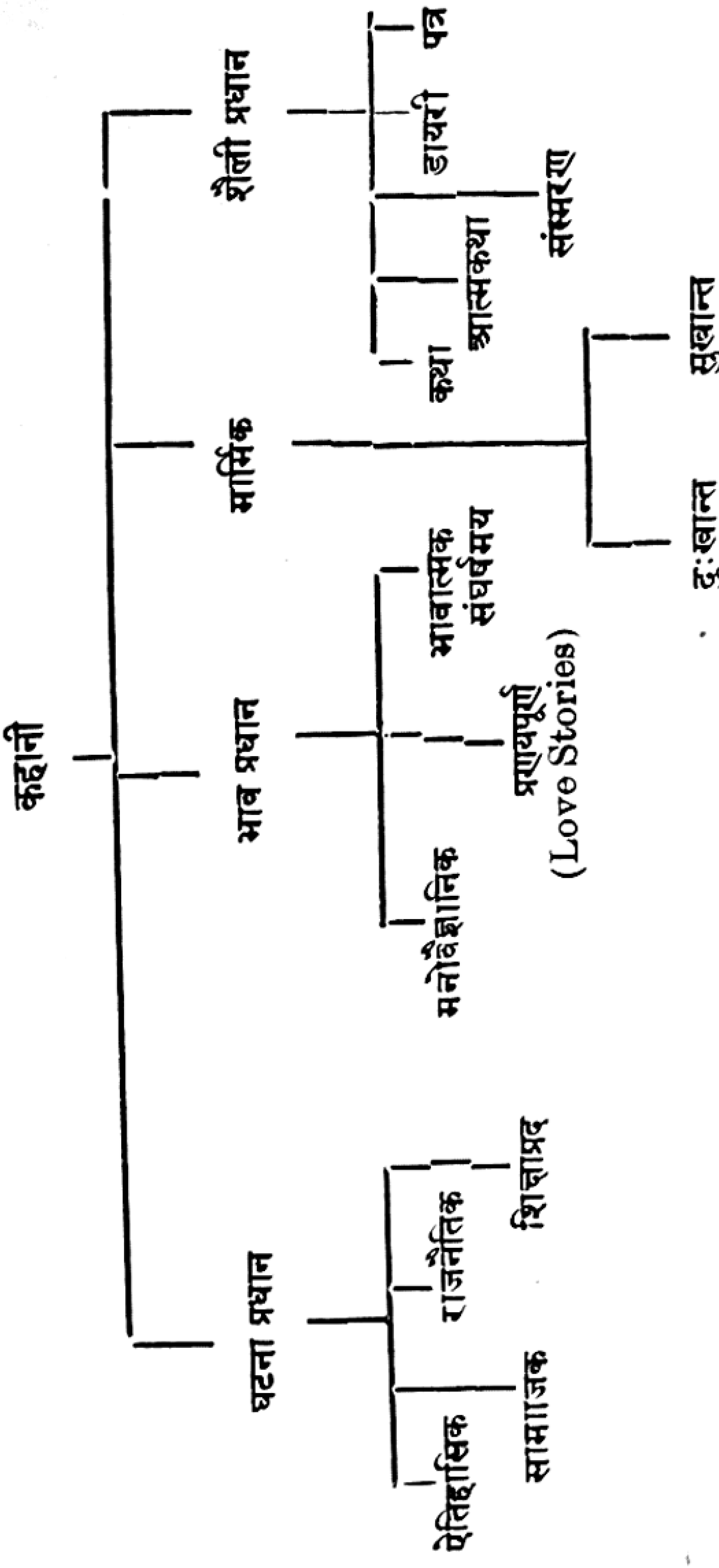
प्रायः ऐसी कहानियां भी देखने को मिलती हैं। जिनमें गूढ़ व्यंजना और कल्पना का अपूर्व समन्वय पाया है। दूसरी ओर प्रतीक के आधार पर लाक्षणिक कहानियाँ भी लिखी जाती रही हैं। उग्रजी की "भुनगा" कहानी ऐसी ही लाक्षणिक कहानियों में से एक है।

हिन्दी कहानियों ने जो प्रगति, उन्नति और विकास वर्तमान शताब्दि के तृतीय दशाब्द तक किया, उसकी गति आगामी दशाब्दों में मंद पड़ गई। केवल पिछले ही जीवित कलाकारों के अतिरिक्त पिछले बीस वर्षों में एक भी कहानीकार ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जिसे हम पिछले बीस वर्षों का प्रतिनिधि कहानी कार कह सकें। क्या अब राष्ट्र भाषा घोषित हो जाने के बाद भी हिन्दी का यह कलंक शीघ्र ही न धुलेगा ?

(श्री कुमार 'नीरस')

———

विभाजन—चक्र


कहानी
घटना प्रधान
भाव प्रधान
मार्मिक
शैली प्रधान
ऐतिहासिक
सामाजिक
राजनैतिक
शिक्षाप्रद
मनोवैज्ञानिक
प्रणयपूर्ण (Love Stories)
भावात्मक संघर्षमय
दु:खान्त
सुखान्त
कथा
आत्मकथा
संस्मरण
डायरी
पत्र

सेनापति का प्रकृति-चित्रण

हिंदी साहित्य की मूल प्रेरणा का आधार संस्कृत साहित्य रहा है। उसकी समस्त प्रवृत्तियों को हिन्दी कवियों ने अपनी पैतृक सम्पति के रूप में ग्रहण किया है। अतः जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में प्रकृति का विशाल सौन्दर्य अधिकांशत उद्दीपन विभाव के वर्णन मात्र के संकुचित घेरे में घिरा रहा उसी प्रकार हिन्दी में भी प्रकृति उद्दीपन भावों को व्यक्त करने की आधार मात्र रही। रीतिकाल में तो प्रकृति और भी अधिक संकुचित हो गई। नायक नायिकाओं उन के हाव-भाव और क्रिया कलापों तक ही इस युग के कवियों का विशेष ध्यान रहता था। अतएव नायक नायिकाओं के मनोभावों को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति में से भी पुष्पवाटिका 'केलिकुन्ज' आदि ही उनकी वर्णन की सामग्री रहते थे।

अपने युग की इस प्रचलित परम्परा से सेनापति भी अछूते न रह सके। उनके ऋतु वर्णन में अधिकांश कवित्तों में उद्दीपन- विभाव ही पाया जाता है। किन्तु इतना अवश्य है कि उनका दृष्टिकोण यहीं तक सीमित न रहा, उनकी मौलिक विचार धारा और प्रकृति-अनुराग ने उसे अन्य रूप में भी देखा। कवि ने अनेक स्थलों पर प्रकृति के रम्य रूप पर विमोहित होकर ही उसका वर्णन किया है। उद्दीपन-विभाव तो अज्ञात रूप से साहित्यिक परम्परा के कारण ही यत्र तत्र अपनी झलक दिखा गया है। उदाहरण के लिए उनका शरद् वर्णन ही ले लिया जाय—

पाउस निकास तातैं पायो अवकास भयौ,
जौन्ह को प्रकास सोभा ससि रमनीय कौं,
विमल अकास, होत वारिज विकास, सेना—
पति फूले काँस हित हँसन के हिय कौं।
छिति न गरद मानौं रंगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद को मिलावे 'हरि पीय' को
मत्त हैं दुरद, मिटयौं खंजन दरद, रितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं।

यहाँ पर स्वच्छ आकाश, हल्दी के रंग के धानों आदि को देख कर कवि शरद् का सुन्दर वर्णन कर रहा है। मूल भावना शरदागमन से ही प्रेरित है। 'हरि-पीय' का स्मरण तो युग-कालीन छाप मात्र है। किन्तु ग्रीष्मकाल आदि के वर्णन में कवि पर इतनी छाप भी नहीं पड़ सकी है, सीधा और सरल गर्मी का बड़े ही मार्मिक ढंग से कवि वर्णन करता है—

वृष को तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति, जग जरति भरनि सीरा,
छाँह की पकरि पंथी पंछी विरमत है।
सेनापति नेक दुपहरी के ढ़रत, होत,
धमका विषय ज्यों न पात खरखत हैं।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर को पकरि कौनौं,
धरी एक कहीं घाम विरमत हैं।

अन्तिम चार पंक्तियों में ग्रीष्म काल की दोपहरी की 'उमस' और सन्नाटे का जैसा सजीव और यथार्थ वर्णन कवि ने किया है वैसा रीतिकाल तो क्या अन्यत्र भी कम ही देखने को मिलता है। गर्मी की भीषणता के वर्णन और तहखानों में पाई जाने वाली ठंडक के विषय में कवि की उक्ति भी देखने योग्य है—

भीषण तपत ऋतु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ के।
मानौं सीतकाल सीतलता के जमाइवे कौं,
राखें है विरंचि वीज धरा में धराई के।

इसके अतिरिक्त प्रकृति के आँचल में बिहार करते हुए कवि की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं की ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रही है। कंवार की वर्षा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

खंड खंड सब दिगमंडल जलद सेत
सेनापति मानों संग फटिक पहार के

अम्बर अडंबर सौं उमड़ि घुमड़ि छिन
छिछवैं छछारे छिति अधिक उछार के।

यहाँ पर कविने 'खंड खंड जलद सेत' और 'छिन छिछवैं छछारे छिति' का प्रयोग करके स्पष्ट दिखा दिया है कि क्वार की वर्षा में श्रावण के बादलों का 'गगन अंगन घनानन तै सघन' का रूप नहीं है वरन शुभ्र रंग के छोटे छोटे बादल हैं जो यदा कदा थोड़ी थोड़ी बूंदें पृथ्वी पर छोड़ जाते हैं। इन कतिपय कवित्ताशों को देखने से ही पाठक को यह विदित हो जाता है कि कवि को प्रकृति से पूर्ण अनुराग है और उसकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से कोई बात छूट नही पाई है। और कवि साहित्यिक परम्परा के बन्धन से मुक्त होकर कुछ कदम आगे बढ़ गया है।

साहित्यिक परम्परा के साथ ही साथ कवि के प्रकृति वर्णन में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव भी यत्र तत्र पाया जाता है। यह सर्व विदित ही है कि रीतिकाल के कवि अधिकांशत राजप्रासादों की कृपा पर अधिक निर्भर रहते थे, राजाओं की चाटुकारिता में काव्य-रचना करना और अपनी जीविका चलाना ही उनके काव्य का चरम लक्ष्य था। उनकी आँखों के सामने अधिकाँशत राजदरबारों की चमक दमक और राजसी ठाठ बाट ही रहते थे, उन्हीं का वर्णन करना उनके काव्य का आदर्श रहता था। सेनापति ने भी प्रचलित प्रथा के अनुरुप अपने ऋतु-वर्णन में राजप्रासादों की स्थिति का ही अधिक वर्णन किया हैं। कवि की दृष्टि ग्रीष्म काल में तहखानों की सफाई, जल-यन्त्रों के संचालन और नाना प्रकार के प्रलेप, गुलाव जल आदि पर ही टिकती है।

जेठ नजिकाने सुधरत खसकोन तल
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं
होति है मरमम्त विविध जल-यंत्रन की,
ऊंचे ऊंचे अटाते सुधा सुधारित हैं।

इसी प्रकार शीतकाल में भी कवि कि दृष्टि पहले गरम हमाम,

बढ़िया शाल दुशालों पर ही टिकती है—

प्रात उठि आइबै कौ तेलहि लगाइबे को
मलि मलि न्हाइबे को गरम हमाम हैं
औढ़िबै कौं साल जो विशाल हैं अनेक रंग
वैठिबै कौं सभा जहाँ सूरज कौ घाम हैं।

किंतु जिस प्रकार कवि ने साहित्यिक परम्परा को तोड़कर प्रकृति का निखरा रुप हमारे सन्मुख रखने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार सामाजिक विषमताओं की ओर भी उसका ध्यान गया है। तहखानों और जल-यन्त्रों के साथ साथ वह जेठ की तपती हुई दोपहरी में लू के थपेड़े खाते हुए निर्धन व्यक्ति को भी नहीं भूला है। बड़े हम्माम और रंगीन दुशालों के साथ साथ अलाव जलाकर तापते हुए जन-साधारण पर भी उसकी दृष्टि गई है। जहां पर परम्परा से मुक्ति होने के कारण वर्णन में अधिक सजीवता और मौलिकता दृष्टिगोचर होती है।

सीत को प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यों दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराई कै।
हिम के समीर तेई बरसैं विपमतीर,
रही है गरम भौन कोनन में जाइ कै।
धूम नैन बहैं लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिय तो लगाई रहै नैंक सुलगाई कै।
मानौं-भीत जानिमहासीत तैं पसारिपानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाई के।

अन्तिम चार पंक्तियों में शीतकाल के अत्याधिक मार्मिक एवं सहानुभूति पूर्ण वर्णन को पढ़कर लगता है जैसे कवि ने अपनी समस्त भावुकता को उड़ेल कर यह चित्र तैयार किया है। जिसमें हृदय को स्पर्श करने की पूर्ण शक्ति है। आचार्य शुक्ल के अनुसार कवि की कसौटी इस में है कि कवि ने मार्मिक स्थलों के चुनाव में कितनी भावुकता का परिचय दिया है। और सेनापति में युगकालीन साहित्यिक

परम्परा एवं सामाजिक परिस्थिति की छाया होते हुए भी ऐसे मार्मिक स्थल यथेष्ट मात्रा में पाए जाते हैं। जो सेनापति को प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से रीतिकाल के तो सर्व श्रेष्ठ कवि घोषित करते ही हैं, साथ ही हिन्दी साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर श्री० उमाशंकर शुक्ल के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "सेनापति के ऋतु-वर्णन में ऋतुओं के उत्कर्ष को वर्णित करने की चेष्टा विशेष रूप से देखी जाती हैं" जिसमें उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और अलंकार प्रियता ने और भी अधिक शोभा उंढ़ेल दी है।

(सुश्री रामेश्वरी शर्मा एम० ए०)

काव्यालोचन का मानदण्ड

साहित्य-जगत में अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य-समीक्षा के लिये उचित मानदण्ड के स्वरूप पर विवाद होता आया है। यदि देश विदेश के विवदमान आचार्यों के मतों का संक्षिप्त संकलन ही किया जाये तो एक बड़े ग्रंथ का निर्माण हो जायेगा। इस से ही इस विषय की प्राचीनता और चिर-कालीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन इतने विवाद के उपरान्त मानव-बुद्धि किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच सकी। और अधिकाँश लोग यह विश्वास रखते हैं कि अंतिम बात इस सम्बन्ध में कही भी नहीं जा सकती। इसके लिये कारण है।

काव्य की मूल प्रेरणा बाह्य सृष्टि के सम्पर्क से उद्भूत होती है। कविता के द्वारा वस्तुतः हम निजेतर सृष्टि के साथ अपने अंतर्जगत का संस्पर्श अनुभव करते हैं। जब तक अंतर्जगत और बाह्य-जगत का यह पावन संम्पर्क घटित नहीं होता। तब तक काव्य-कार की सृजनात्मक प्रतिभा पंगु ही रहेगी। हम काव्य को चाहे कितनी ही अंतर्मानसिक अनुभूतियों की अभिव्यक्वित मानें, चाहें उसे आत्मा का कितना ही अंतर्मुखी परिष्कार या संस्कार मानें, एक बात सर्वदा

पायेंगे कि कला-गत सृष्टि स्थूल नग्न और वास्तविक संसार के वाह्य-स्पर्श से पुलकित होती है। इटली के प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री और आलोचक 'क्रोचे' ने अपनी सहजानुभूति के सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद के सहारे यह निष्कर्ष निकाला था कि कला-सृजन अपने शुद्ध-निर्लिप्त रूप में एकान्त मानसी व्यापार है। उसका किंचिन्मात्र सम्बन्ध निजेतर सृष्टि या जागतिक व्यवस्था से नहीं होता। उनके अनुसार काव्य की वास्तविक और मौलिक सृष्टि हमारे अंतर्जगत में ही सम्भव है; जो कुछ वाह्य अभि व्यक्ति होती है, वह अनुवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह अनुवाद मूल-सृष्टि के जितना ही अधिक निकट होगा, उतना ही प्रभावशालिनी और आकर्षक होगी। इस से निष्कर्ष यह निकलता है कि मौलिक स्रष्टा के रूप में कवि मनो-जगत में ही रह सकता है, वाहर आने में वह अपनी मौलिकता खोकर अनुवादक बन जाता है। इस तर्क के आधार पर ही प्रमाणिक किया गया कि कवि का वक्तव्य विषय कुछ महत्व नहीं रखता, उसकी अभि-व्यंजना शक्ति ही अधिक समृद्धि शालिनी होनी चाहिए।

'क्रोचे' के इन तर्कों में एक ऐसा मोहन-भाव था कि अधिकांश कवि और समीक्षक उसके प्रभाव में आगये और परिणाम-स्वरूप पश्चिमी यारूप में अनेक प्रकार के भ्रामक साहित्यिक मतों का प्रचलन हुआ। परन्तु जब 'क्रोचे' के मत की सम्यक् परीक्षा की गई तब उसकी असंगतियाँ वाहर आईं। आगे चल कर स्वयं 'क्रोचे' ने ही अपने इस विचित्र-अविष्कार का निषेध कर दिया। इससे मिलते-जुलते अनेक मत साहित्य-जगत में समय समय पर प्रचलित हुए, परन्तु अपने अंतर्विरोध के स्पष्ट हो जाने पर लुप्त हो गए।

उपर्युक्त बात पर विचार करते समय हमारी पूर्वोक्त धारणा और भी अधिक पुष्ट होती है कि साहित्य सृष्टि पर वाह्य सामाजिक व्यवस्था का व्यापक प्रभाव पड़ता है। परन्तु सम्पूर्ण सृष्टि और मानवीय सामाजिक व्यवस्था भी परिवर्त्तन शील है। इन्हीं के समानान्तर चलते हुए मानव का अंतर्जगत और वाह्य-जगत का संतुलन सर्वदा बना रहता है। यदि संपूर्ण मानसिक और सामाजिक

संतुलन भंग हो जाए तो विक्षोभ-संकुल जगत में प्रलय सी मच जायेगी। इसी संतुलन बनाए रखने का कार्य कला के द्वारा सम्पन्न होता है।

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के समानान्तर कला का अन्तः करण और स्वरूप भी बदलता रहता है। ऐसी दशा में समाज-निरपेक्ष, सृष्टि-निरपेक्ष, कला-समीक्षा कोरा ब्रह्मवाद बन कर रह जायेगी। काव्यालोचन के मानदंड की शोध करने वाले के लिये यह स्थापना महत्व पूर्ण है।

भारतीय साहित्याचार्यों ने दीर्घकालीन विवाद और शोध के उपरान्त 'रस' नाम के एक ऐसे तत्व को ढूंढ़ लिया है। जो प्राचीन काल से लेकर अब तक भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में किसी न किसी रूप में मान्य रहा है। यहां यह नहीं कहा जा रहा कि इस पर तर्क-वितर्क नहीं हुआ; यह भी नहीं कहा जा रहा कि इसमें परिवर्तन-संशोधन नहीं किया गया। यह सब कुछ हुआ; और भारतीय मनीषा ने इस पक्ष और विपक्ष में अनेक नये मत वादों का आविष्कार किया। परन्तु वस्तु-स्थिति कुछ ऐसी थी कि 'रसवाद' सर्वाधिक प्रबल बना रहा। इसका कारण था कि इस सिद्धान्त में काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का संतुलित नियोजन था। इस लिए जीवन की बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय इस मत में सहज भाव से हो गया। परन्तु यह स्थिति सर्वदा एक सी बनी रही। निरतन चिंतन मनन का परिणाम यह निकला कि काव्य में प्रतीय मान 'रस' ही साहित्य-रचना और समीक्षा का लक्ष्य बन गया। रसानुभूति के महत्व सच्चाई और उपयोगिता को इन्कार करना मूर्खता होगी, परन्तु उसी को अन्तिम लक्ष्य मान लेना कविता के महत्व को घटा देना है। काव्य का लक्ष्य अंततः लोक-कल्याण ही होगा। वह वाग्विलास व्यर्थ है जो मानव-मात्र का हित-साधन करता हो और वह साहित्य-सृष्टि निरर्थक है जिसे मनुष्य को मनुष्य बनने संबल नहीं दिया। यहाँ लेखक को गलत न समझा जाए। उसे 'रसवाद' की अतिव्याप्ति से ही विरोध

है और किसी बात से नहीं। बहुत पहले स्वयं आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्ष्य पर विचार करते हुए कहा था:—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये;
सद्यः पर निवृत्तये कान्तसम्मितयोप देश युजे।

अथार्थ 'काव्य की सृष्टि, यश, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दुःख नाश, शीघ्र परमानन्द और कान्तासम्मित मधुरता-युक्त उपदेश' के अर्थ की जाती है। इस कथन में जितनी ईमानदारी है उतनी ही सचाई। ऐसी स्पष्टवादिता काव्य-निरूपण के सम्बन्ध में कम ही दिखाई देती है। आचार्य ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि अन्य चीजों के साथ काव्य दुःख-निवारण का अस्त्र और कान्तासम्मित उपदेश का साधन है। अवश्य ही यह दुःख निवारण केवल कवि का नहीं है, और न यह उपदेश ही कवि के निमित्त है। इन दोनों का सम्बन्ध पाठक या श्रोता से है। कवि के स्वार्थ की परिधि इतनी संकीर्ण नहीं होती कि वह अपने अतिरिक्त किसी अन्य की चिन्ता न कर सके। अब प्रश्न यह है कि क्या यह मानव कल्याण बिना लोक-चितंन के संभव है। क्या शुद्ध और एकान्त रसानुभूति इसकी प्राप्ति करा सकती है ? जिस संकीर्ण अर्थ में 'रसवादी' विचारधारा कुछ थोड़े से लोगों के द्वारा विकसित की गई थी, उस अर्थ में तो लोक कल्याण कभी भी संभव नहीं। परन्तु यदि व्यापक सामाजिक पृष्ठ भूमि पर इसका निरूपण किया जाय तो जन हित की संभावना बढ़ जाती है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी मौलिकता से यह संभावना उत्पन्न की थी।

यहाँ प्रसंग-वश एक और शंका का समाधान कर लिया जाए। क्या रसानुभूति लोक-कल्याण की विरोधनी भी हो सकती है ? क्या मनुष्य को उस काव्य के पढ़ने या सुनने से भी रस की अनिर्वचनीय अनुभूति उपलब्ध हो सकती है जो मूलतः लोक-विरोधी है ? इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन किया जा सकता है कि यह बहुत कुछ 'सहृदय' की मानसिक स्थिति और संस्कार पर निर्भर है। संसार के सभी लोग विभिन्न मात्रा और प्रकार से रस ग्रहण करते हैं—सब एक सी वस्तु में एक सी ही आसक्ति या अनासक्ति नहीं रखते। "भिन्न

रूचिर्हिलोके" की सत्यता इसी लिए माननीय है। बहुत संभव है कि किसी कलाकार की प्रभावशालिनी रचना इसलिए भी महत्त्व न प्राप्त कर सके कि जन-समाज की रूचि परिष्कृत न हो। अगर कुरूचिपूर्ण विषयों में ही किसी समाज की आसक्ति हो जाय तो उसे ऐसे विषयों का चित्रण प्रस्तुत करने वाली रचना में ही सच्ची रसानुभूति प्राप्त हो सकती है। उदात्त वृतियों को आश्रय देने वाला साहित्य उसका प्रिय नहीं बन सकता। ऐसी दशा में 'रसानुभूति' की मात्रा पर विश्वास करके कला-समीक्षा में केवल उसी को स्थान देना एकांगिता को जन्म देगा।

'क्रोचे' के 'अभिव्यंजनावाद' का सम्बन्ध काव्य के बहिरंग से विशेष था और भारतीय 'रसवाद' का संबन्ध उसके अंतरंग से। इन दोनों मतों का संक्षिप्त परिचय प्रसंगानुसार हमने ऊपर देने की चेष्टा की है। वास्तव में 'अभिव्यंजनावाद'-'अलंकारवाद' और 'रीतिवाद' के नाम से विकसित हो चुका था। परन्तु 'क्रोचे' ने आधुनिक युग में उसे जिस विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया और योरोपीय कला-समीक्षा को उसने जिस रूप में प्रभावित किया उसे ध्यान में रखते हुए ही क्रोचे के नाम पर इस मत का उल्लेख प्रारम्भ में किया गया है।

ये दोनो मत शाश्वत मानदंड के रूप में साहित्य-शक्तियों के द्वारा नहीं गृहीत हुए। समय समय पर युग की आवश्यकता के अनुकूल इनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया। काव्य के बहिरंग अंतरंग दोनों से सम्बन्ध मान्यतायें इसी प्रकार बदलती रहीं।

हमारे बीच कुछ लोग ऐसे भी हैं। जो समाज की आवश्यकता के अनुकूल अकंनीय-काव्य-द्रव्य के परिवर्तन को तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु काव्य के बाह्य उपकरणों में विशेष परिवर्तन नहीं स्वीकार कर पाते। ऐसे लोगों की सम्मति में कविता का बाहरी अलंकरण सदैव एक सा आकर्षक और सुसज्जित रहना चाहिए। किसी भी परिस्थिति में उसमें शैथिल्य नहीं आना चाहिए, उसकी लाक्षणिक गरिमा कम नहीं होनी चाहिए।

ऐसे मत में मूलतः सहमत होते हुए भी इसकी अति-व्याप्ति

की ओर संकेत कर देना अनिवार्य समझते हैं। काव्य का बहिरंग प्रभावशाली होना चाहिए, इससे कोई भी विचारशील व्यक्ति असहमत नहीं हो सकता। माधुर्यपूर्ण उपदेश को तो मम्मट ने काव्य-लाभ माना ही हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भाषा-शैली की चित्तात्मक उद्भावना ही में कवि अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को समाप्त कर दे। इस का यह अर्थ भी नहीं कि काव्य के बाह्य विधान एक समान ही रह जायेगें। संक्रांतिकालीन साहित्य को लक्ष्य कर कवितर सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा था:–

> 'जन-मन में तुम वहन कर सको मेरे विचार,
> वाणी! मेरी-चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?

ऐसे युग में वाणी का अलंकरण लक्षण और व्यन्जना द्वारा ही नहीं अपितु विचारों के सौंदर्य से होता हैं। इसी के अनुरूप काव्य के शैली–विधान पर यदि समाज का प्रभाव देखना हो तो हम 'कविता' और 'उपन्यास' के विकास को देख सकते हैं। सभी जानते हैं कि साहित्यिक विकास के अनुकरण में पहले कविता आती है और फिर बहुत आगे चल कर उपन्यास। काव्य का पहले आना अकारण नहीं है। यदि हम इस बात के ऊपर गंभीरता पूर्वक विचार करे तों देखेंगे कि ऐसा होने के लिए अनिवार्य सामाजिक कारण थे। काव्य वस्तुतः 'लोक-हृदय' की सामान्य अभिव्यक्ति है। मानव मात्र में समान रूप से अनुस्यूत, व्यापक और सामूहिक अखण्ड चेतना मुख्य काव्य-द्रव्य है। प्राचीनकाल में मनुष्य सामूहिक भावनाओं की अनुभूति बड़ी मार्मिकता से कर पाता था। वह समूह में रहने को विवश था और उसके सामाजिक संबन्धों में इतनी गहन सघनता थी कि वह विषमता के आधार पर चित्रन कर ही नहीं पाता था। दूसरे शब्दों में उसका 'लोक-हृदय' से बड़ा स्वच्छ और परिष्कृत संबन्ध था। ऐसी दशा में कविता के विकास के लिए उपयुक्त अवसर मिल सकता था। इसके विपरीत मानव चरित्र की विषमताओं का संश्लिष्ट चित्रण उपन्यास का लक्ष्य होता है। जिस समाज में विषमता अधिक होगी, चरित्रिक विचित्रतायें अधिक होगीं, उसी समाज में श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना संभव है। पूंजीवादी संस्कृति ने जब समाज की विषमताओं को चरम-

सीमा तक पहुंचा दिया, तब उपन्यास नाम की शैली की उद्भावना संभव हुई। इसीलिए प्रत्येक देश में उपन्यास का उद्भव औद्योगिक क्राँति के उपराँत ही दिखाई पड़ा। अधिकांश विद्वान् यह अनुभव करते हैं कि आज के-से युग की सबसे सबल अभिव्यक्ति उपन्यास के ही माध्यम हो सकती है। कुछ लोग आधुनिक युग में कविता का ह्रास देख कर आश्चर्य-चकित होते हैं। वे यदि उपर्युक्त स्थापना का सहारा लें तो संभवतः उन्हें यह ह्रास स्वाभाविक लगने लगेगा। उपन्यास और कविता के इस प्रमाण से यह मत दृढ़ होता है। साहित्य की नवीन शैली की उद्भावना युग की आवश्यकता के समान्तर ही होती है। इस लिए काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों ही पर समाज का समान प्रभाव मानना चाहिए।

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के उपरान्त हमें यह जानना शेष रह जाता है कि सामाजिक विकास-क्रम में आलोचना के सामान्य मान-दण्ड का निर्माण कैसे हो? यह ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्य सौन्दर्य का वस्तुगत मूल्यांकन ही सत्य के सर्वाधिक निकट होगा। व्यक्तिगत रुचि-कुरुचि, राग-द्वेष और पूर्वग्रह हमें वस्तु-सत्य तक नहीं पहुँचा पाते। हम वास्तविक लोक कल्याण की भावना से दूर रह ही जायेंगे यदि व्यक्तिगत रुचि के आधार पर उसका विवेचन करते रहे। मूल सत्य को प्राप्त करने के लिए वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक होता है उसी प्रकार साहित्यविचारक के लिए भी। दोनों ही दशाओं में लोक-कल्याण उसका लक्ष्य होता है। मनुष्य के सभी प्रयास मनुष्य मात्र के हित में नियोजित होते हैं—साहित्य-रचना उसका सबसे सुन्दर प्रयास है। अतः इस प्रयास द्वारा उसके कल्याण की संभावनाएं भी बढ़ जाती हैं। साहित्यकार के ऊपर लोक-संग्रह का गौरव पूर्ण उत्तरदायित्व है, और काव्य-लोचक के ऊपर स्वस्थ साहित्य के निर्माण के लिए प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत करने का। अन्ततः दोनों ही रचनाकार हैं और दोनों की रचनाएं साहित्य-कोटि में समान रूप से गृहीत होती हैं। काव्यालोचन महत्वपूर्ण और लाभकारी अनुष्ठान है। युग की सम्पूर्ण परिस्थितियों का अध्ययन करके, उसके लिए उचित मानदंड का निर्माण

करना श्रेष्ठ विचारक का कार्य है। काव्यालोचन के लिए कोई निश्चित मान-दण्ड न तो अब तक बनाया जा सका है और न आगे ही बनाया जा सकता है। युग की मुख्य समस्याओं को ध्यान में रखते हुए व्यापक पृष्ठ भूमि पर समस्याओं का क्रमबद्ध समाधान प्रस्तुत करने वाला साहित्य और उस साहित्य को प्रोत्साहन देने वाली साहित्य-समीक्षा ही मानव-कल्याण की विधायिका बन सकती है।

(प्रो० जयचन्द राय एम.ए.)

— ——

अपभ्रंश युग और उसका साहित्य

अपभ्रंश की उत्पत्ति

अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति और उसके साहित्य का क्रमिक अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती भाषाओं के ज्ञान के बिना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। भारतीय-साहित्य और जन समाज की आदि भाषा वैदिक संस्कृत के नाम से विख्यात है। धार्मिक मनोवृत्ति के लोग इस भाषा को विश्व की संपूर्ण भाषाओं की आदि प्रवर्तक एवं जननी मानते हैं। उनके मतानुसार वेद ईश्वरोक्त हैं, अतः वे जिस भाषा में लिखे गये हैं वह भाषा भी ईश्वर प्रदत्त-सृष्टि की आदि भाषा है।

अस्तु, जो भी हो इतना तो निश्चत ही है कि वैदिक संस्कृत (छन्दस्) भाषा १५०० ई० पू० ६०० ई० पू० तक कुछ परिवर्त्तनों के साथ बोली जाती थी। उस ही भाषा में ऋग्वेद आदि चारों वेदों का निर्माण हुआ है। ऋग्वेद इस भाषा का सर्व-प्रथम उदाहरण कहा जा सकता है। प्रारम्भिक भाषा होने के कारण उसमें व्याकरण सम्बन्धी नियमों का अभाव सा है। वह एक स्वच्छन्द भाषा थी। धीरे धीरे उसमें व्याकरण के नियमों का सन्निवेश किया गया और उसका पुनर्निर्माण या संस्कार किया गया। वैदिक भाषा के पुनर्निमाण या संस्कार से परिष्कृत जो भाषा बनी वह संस्कृत के नाम से अभिहित

हुई। संस्कृत का अर्थ है संस्कार की हुई अर्थात् व्याकरण–नियमों से परिष्कृत और परिमार्जित भाषा। इस भाषा का साहित्य बड़ा विशाल है। विश्व की आज की कोई भी जीवित भाषा इसके साहित्य की समता नहीं कर सकती। कालिदास, बाण, दण्डी, भारवि, माघ आदि जगत-प्रसिद्ध और महा-प्रतिभ कवि एवं नाट्यकारों ने इसी भाषा में अपना साहित्य लिखा है। पहिले इस भाषा की पहुँच जन साधारण तक थी, धीरे धीरे व्याकरण के नियमों की जटिलता के कारण यह केवल विद्वत्समुदाय की ही भाषा रह गई। इसे बुरी तरह से जकड़ दिया गया कि न तो इस भाषा का कोई शब्द बाहर जा सकता था और नही बाहर का कोई भी शब्द इस भाषा में प्रवेश कर सकता था। यह जन साधारण के सम्पर्क से दूर होती गई। यह केवल धर्म ग्रंथों तथा विद्वन्मंडली को ही अलंकृत करने लगी। जब कोई भी भाषा जन साधारण के सम्पर्क से दूर हट जाती है तो उसका विकास रुक जाता है। अतः संस्कृत का भी विकास रुक गया, और यह 'मृत भाषा' कही जाने लगी।

यह नियम है कि जब कोई भाषा किन्हीं कारणों से विद्वत्मंडली की भाषा बन कर अपना विकास खो बैठती है। और अपना साहित्यिक मूल्य कम कर देती है। तब जन साधारण की भाषा साहित्य के सिंहासन पर धीरे धीरे अपना प्रभुत्व जमा लेती है। उस समय जन साधारण की भाषा पाली थी। अतः बुद्ध भगवान के प्रयत्नों द्वारा वह साहित्यिक क्षेत्र की अधिष्ठात्री बनी, और ईसा की पहली शताब्दी तक यत्किंचित् परिवर्त्तनों के साथ प्रचलित रही। पाली ने तत्सम् शब्दों का एक दम बहिष्कार किया और संस्कृत के कठिन शब्दों को सरल बना कर तद्भव शब्दों की रचना आरम्भ की। उसका व्याकरण भी बड़ा ही संक्षिप्त था। संस्कृत सीखने के लिये जहां ६ हजार से भी अधिक सूत्रों को रटना पड़ता था वहाँ पाली में ८–६ सौ सूत्रों से ही काम चलने लगा।

पाली के बाद ईसा की पहली शताब्दी से प्राकृत भाषा का आरम्भ हुआ और वह लगभग छठी शताब्दी के अन्त तक चलती रही। प्राकृत ने व्याकरण के नियमों की संख्या में तो कुछ भी

विशेष कमी नहीं की, किंतु उच्चारण को सफल बनाने की ओर उसने महत्व पूर्ण प्रयत्न किया। पाली और प्राकृत दोनों ने ही शब्द रूप और धातुरूप की शैली में संस्कृत का अनुकरण किया। धीरे धीरे प्राकृत में व्याकरण-नियमों की जटिलता होती गई और वह भी विद्वत्समुदाय तक ही सीमित रही, जन साधारण से उसका सम्पर्क टूटता गया। वह बोल चाल की भाषा न रह कर केवल साहित्यिक भाषा बन गई।

प्राकृत के बोलचाल की भाषा के पद से अपदस्थ होते ही अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव हुआ। अब विचारना यह है कि यह अपभ्रंश है क्या वस्तु ? पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश नाम का पहले पहल वलभी के राना धारसेन द्वितीय के शिला लेख में मिलने का उल्लेख किया है, जिसमें उसने अपने पिता ग्रहसेन (वि० स० ६५० के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है। वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देश की भाषा नहीं किंतु मागधी आदि भिन्न भिन्न प्राकृत-भाषाओं के अपभ्रंश (बिगड़े हुये) रूप वाली मिश्रित भाषा का नाम है। आरम्भ में यह आभीरों की भाषा मानी जाती थी, किंतु बाद में चल कर अपभ्रंश नाम लोक-भाषा का ही हो गया। इस भाषा को अपभ्रंश इस लिये कहा गया है कि इसमें संस्कृत शब्दों के अपभ्रष्ट (बिगड़ेहुए) रूप ग्रहण किये गये थे। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस लोक-भाषा को साहित्य में कब से स्थान मिला किंतु इसके अनेक प्रमाण हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से अपभ्रंश-कवियों का सम्मान भी राज-दरबार में होता था। राजा लोग अपभ्रंश कवियों को भी अपने राज दरबार में रखना उतना ही आवश्यक समझते थे जितना संस्कृत कवियों को। राजशेखर ने राजा का कर्तव्य साहित्यिक आयोजन बताते हुए सभामंडप के निर्माण संस्कृत और प्राकृत-कवियों के बाद अपभ्रंश के कवियों के बैठने का स्थान निधारित किया है। कहते हैं कि राजाभोज स्वयं संस्कृत-भाषा के साथ साथ अपभ्रंश के भी बड़े अच्छे कवि थे। राजा भोज और उसके पूर्ववर्ती राजा अपभ्रंश कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे, अपितु स्वयं कविता भी लिखते थे। राजा

भोज के चचा महाराज मुंज की अपभ्रंश कवितायें इस भाषा के महत्व की परिचायिका हैं। संस्कृत के महाकवि एवं नाटककार कालिदास के 'विक्रमोर्वशीप' नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के नमूने पाए जाते है। भरत के नाठ्यशास्त्र में लोक भाषा का उल्लेख मिलता है, उस भाषा के लक्षणों से अनुमान किया जाता है कि वह लोक भाषा अपभ्रंश ही होगी।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चिर प्राचीन काल से अपभ्रंश साहित्य, जन साधारण तथा राज वर्ग का सम्मान का पात्र रहा है। वड़े से बड़े कवि ने उसमें काव्य रचना की, जन साधारण की तो अपनी भाषा थी ही राज वर्ग ने भी उसे संस्कृत और पाली के बाद महत्व पूर्ण स्थान दिया।

शव्द रूप और धातु रूप की शैली की दृष्टि से पाली और प्राकृत संस्कृत के अधिक निकट हैं। पाली और प्राकृत को संस्कृत रूप बड़ी सरलता से दिया जा सकता है। इन दोनों भाषाओं में संस्कृत भाषा के विकृत रूप (तभ्दव) विशेष रूप से व्यवहृत हैं, उन्हें तत्सम रूप में बदल देने से पाली और प्राकृत का संस्कृत से कोई विशेष भेद नहीं रह जाता। अपभ्रंश में संस्कृत शब्दों के अभाव का कारण उसका लोक भाषा पन है।

इस भाषा की क्षेत्र सीमा का निर्धारण करते हुए श्री आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' में उल्लेख किया है कि 'राज शेखर की इस पुस्तक (काव्यमीमांसा) से यह भी प्रमाणित होता है कि जिन प्रदेशों में आभीरों का प्राधान्य था वहां की लोगों की भाषा में अप्रभ्रंश की बाहुलता थी। उनके गौड़ मत से या बंगाल देश के लोग संस्कृत में अधिक रुचि रखते थे, लाट देश या गुजरात के लोग प्राकृत में, और मारवाड़, टक्कर (हरियाना) और भादानक (मिर्जापुर) और बुंदेल खण्ड के लोग अपभ्रांश से मिलते हुए प्रयोग वाली भाषा बोलते थे (पृ० ५१)। 'वेही अन्यत्र कहते हैं कि सुराष्ट्र (काठियावाड) और भवरण(मारवाड़) के लोग अपभ्रंश बोलते हैं। इस प्रकार मूलतः अपभ्रंश मारवाड़, हरियाना, (पंजाब), भादानक

(बुंदेल खण्ड) सुराष्ट्र (काठियाड़) में अधिक प्रचालित थी।

अपभ्रंश भाषा का समस्त-साहित्य धर्मानुप्राणित है। उसके समस्त साहित्य में मुख्यतः तीन धर्म-भावनाओं का प्राधान्य मिलता है। और उन्हीं के आधार पर उसके साहित्य को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) बौद्ध धर्म, (२) जैन धर्म, (३) ब्राह्मण धर्म। हम इन तीन धर्मों के अनुसार अपभ्रंश-साहित्य एवं उसके काव्यकारों का परिचय यहां प्रस्तुत करेगें।

बौद्धधर्म

अपभ्रंश की रचनाओं का दर्शन हमें सबसे पहले विक्रम की सातवीं शताब्दी में होता है। उस काल की रचनाओं के ननूने बौद्धों की 'वज्रयान-शाखा' के सिद्धों की रचनाओं में मिलते हैं। ये बौद्धों 'तान्त्रिक सिद्धों' के नाम से विख्यात थे और वामाचारी होते थे। इन तान्त्रिक सिद्धों में अधिकांश निम्न जाति के चमार, कहार, डोम आदि होते थे जो विशेषतः अशिक्षित अथवा अर्ध-शिक्षित होते थे। इन्होंने जनता में अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा अपभ्रंश में कविताएं लिखीं।

बौद्ध-धर्म का एक पवित्र सम्प्रदाय 'सहजयान' था, जिसके प्रवर्तक 'सरहपा नामक बौद्ध-भिक्षुक थे। इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'महासुखवाद'थाजिसमें मुक्त यौम सम्बन्धको महत्व दिया गया इन्होंने इन्द्रियोंकी वासनों को पूर्ण रीति से तृप्त करके आनन्द भोगने का विधान किया।

इस काल में अपभ्रंश भाषा में कविता करनेवाले सरहपा, शवरपा, भूसुकूपा. लुइपा, तिलोपा, शान्तिपा कवि विशेष हैं।

सरहपा

(ई० स० ७६) में बौद्ध धर्म की सहनयान शाखा के प्रवर्तक थे। जाति के ब्राह्मण होते हुए भी इन्होंने भिक्षु जीवन को त्यागकर एक नीच जाति की युवती से विवाह किया। ये संस्कृत के बड़े विद्वान और

प्रसिद्ध सिद्ध थे। ये अपने समय के 'विख्यात' 'नालन्दा विश्व विद्यालय के महापण्डित थे। ये जब अपभ्रंश की कविता करते थे तो संस्कृत को भूल जाते थे। इनकी प्रसिद्ध रचनायें ये हैं :- कायकोण-अमत-वज्र गीति, डाकिनी-गुह्य-वज्र गीति, चित्तकोष-अज-वज्र गीति, सरहपाद गीतिका आदि।

शवरपा

(ई० स० ७८०) ये क्षत्रिय वंशीय बौद्ध सिद्ध थे। ये पालवंशी राजा धर्मपाल के समकालीन कवि थे और भागलपुर विश्व विद्यालय के आचार्य थे। इनकी रचनाएँ चित्त-गुह्य-गम्भीरार्थ-गीति, षंडगयोग, सहज-संवर, स्वाधिष्ठान आदि प्रमुख हैं।

भूसुकूपा

(ई० स० ८००) इनका दूसरा नाम शांति देव। नालन्दा महा विद्यालय के महा पण्डित थे। और प्रसिद्ध बौद्ध सिद्ध थे। ये एक राज कुमार थे। इनकी 'सहज-गीति' केवल एक रचना प्राप्त है।

लुइपा

(ई० स० ८३०) ये जाति के कायस्थ थे बौद्ध धर्म को मानने वाले थे। इनका निवास स्थान मगध देश था। इनकी प्रमुख रचनायें अभि समय विभंग, तत्व स्वभाव-दोहाकोव्य, बुद्धोदय-भगवद्-अभि-समय, गीतिका आदि हैं।

तिलोपा

(ई० स० ६६०) ये मगध के रहने वाले, जाति के ब्राह्मण तथा बौद्ध भिक्षुक थे। द्वितीय विग्रह पाल के सम कालीन कवि थे। इनकी रचनाओं में निवृत्ति भावना क्रम, करुणा भावनानिष्ठान, दोहा कोष महा मुद्रोपदेश आदि प्राप्त हैं।

शान्तिपा

(ई० स० १०००) इनका पूरा नाम 'रत्नाकर शान्तिपाद' था। ये 'कलि काल सर्वज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध थे । इनका बौद्ध और ब्राह्मण सिद्धों में बड़ा आदर होता था। ये गौड़ राजा विग्रह पाल-महीपाल के गुरु और विक्रम-शिला विश्व विद्यालय के अध्यक्ष रहे। अपने समय के बड़े भारी पण्डित थे। इनके कुछ दर्शन-ग्रन्थ और छन्द-शास्त्र का एक ग्रन्थ 'छन्दो रत्नाकर, प्राप्त है। एक ग्रन्थ 'सुख-दुःख द्वय परित्याग दृष्टि' प्रसिद्ध है।

जैन धर्म

जैन कवियों ने भी इस काल में कविता लिखी। इस समय के जैन कवि कविराज स्वयंभूदेव, पुष्प दंत, देवसेन, योगींदु, रामसिंह, धनपाल, जैनाचार्य मेरुतुंग, कनकायर, जिनदत्त, सूरि, हेमचन्द्र सूरि, हरिभद्रसूरि, शालिभद्रसूरि, सोमप्रभसूरि, जिनपद्मसूरि आदि हैं। जिनमें निम्न लिखित प्रसिद्ध हैं—

कविराज स्वयं भूदेव

(ई० स० ७९०) जैन कवि थे। इनकी गणना भारत के इने गिने कवियों में की जाति थी। ये अपभ्रंश के महान कवि थे। और 'ध्रुव धारा वर्षा' के समकालीन। इन्होंने 'रामायण' और 'महाभारत' दो महाकाव्यों की रचना अपभ्रंश में की थी। जो कि बडे ही अद्भुत कवित्व पूर्ण और विशाल-आकार के हैं। जिसमें भाषा स्वाभाविक, प्रवाह युक्त और सरल है। एक एक शब्द चुन चुन कर रखा गया है। स्वर-योजना कानों को प्रिय लगने वाली है। इनकी कविताओं में प्रकृति वर्णय बड़ा ही सुन्दर और सजीव है। भाव और रस का परिपाक तो इनकी कविता में एक खूबी है।

पुष्पदन्त

ये एक जैन कवि थे। अपनी प्रतिभा में ये स्वयंभू से किसी प्रकार भी कम नहीं थे। ये राष्ट्रकूट कृष्ण के समकालीन रहे। ये जाति

के ब्राह्मण होते हुए भी जैन धर्म के अनुयायी थे। इन महाकवि का काल ई० स० ६५६ से ७२ है। ये बहुत ही स्वाभिमानी और स्वतंत्र प्रवृति के थे। इसी लिए इनका नाम 'अभिमान मेरू' पड़ा। ये बहुत ही स्वतंत्र मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। इन्होंने सामन्तों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। इनकी कविता में विरह वर्णन का बड़ा सुन्दर रूप मिलता है। इन्होंने सब जगह अपनी कविता शक्ति, विविध विषय, व्यापकता और प्रौढ़ प्रतिभा का प्रकाशन किया है।

जैनाचार्य मेरूतुंग

ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण ही भोज का समय है। इसी समय चालुक्यराज तैलप ने मुंज को बन्दी बनाकर अपने बन्दी गृह में रखा था। मुंज की इस विपत्ति का वर्णन इनके समकालीन कवि ने बड़ा ही करूणाजनक किया है। इसके कुछ उदाहरण जैनाचार्य मेरूतुंग ने अपनी पुस्तक 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में दिए हैं।

हेमचन्द्र सुरि

(ई० स० १०८८-११७६) इस शताब्दी के आरम्भ में ही हमें इन महा कवि के दर्शन होते हैं। 'कलिकाल सर्वज्ञ' प्रसिद्ध थे। इनका जन्म गुजरात के ग्राम धवक्कलपुर में हुआ था। ये एक विद्वान कवि थे अतः इन्होंने साहित्य की बहुत सेवा की। ये जन्मसे वैश्य, परन्तु धर्म से जैन साधु थे। अपभ्रंश में लिखी हुई कृतियों में इनकी तीन उपलब्ध हैं। प्राकृत व्याकरण, छन्दानुशासन, और देशीनाम माला इत्यादि। ये अमहिलवाड़ा के सोलंकी राजाकर्ण, जयसिंह सिद्धराज, कुमार पाल, अजय पाल, मूलराज द्वितीय, भीमदेव भोला के समकालीन थे।

ब्राह्मण धर्म

इस समय जनता पर सामन्तों और राजाओं का एक दम प्रभुत्व था। इन राजाओं और सामन्तों के विश्वाश पात्र तथा सलाहकार पुरोहित ब्राह्मण होते थे। ये ब्राह्मण भी राजाओं की भांति बल वैभव का उपभोग करते थे। इन्होंते छूताछूत, जात पात, मिथ्या विश्वासों को फैलाया। कुछ ब्राह्मणधर्मी कावियोंका परिचय यहां दिया जाता हैं।

आमभट्ट

(ई० स० ११४३) ये अनहिलवाड़ के रहने वाले, ब्राह्मण कवि थे। ये जयसिंह-कुमार पाल के समकालीन रहे। इनकी कुछ फुटकर रचनायें प्राप्त हैं।

विद्याधर

(ई० स० ११८०) ये कन्नौज के जयचन्द के महामन्त्री, ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। इनकी फुटकर रचनायें प्राप्त हैं।

उपर्युल्लिखित बौद्ध, जैन, एवं ब्राम्हण धर्मी कवियों के अतिरिक्त लगभव १२ वीं १३ वीं शताब्दी में नाथ पन्थी कवियों ने भी अपभ्रंश में काव्यसृत्रन किया। नाथ पन्थ कुछ बौध्द और कुछ हिन्दु-धर्म का सम्मिश्रित रूप है। इस पन्थ के प्रवर्तक श्री जलन्फर नाथ थे। इन्हीं की शिष्य परम्परा में श्री मत्स्येन्द्र नाथ (मछन्दर नाथ) और गोरख नाथ हुए। राजा भर्तृहरि और राजा गोपीचन्द्र भी इसी सम्प्रदाय में दिक्षित हुए थे।

श्री गोरखनाथ जी ने अपनी रचनाएं गद्य और पद्य दोनों में की हैं। इन्होंने जो सायित्य लिखा वह अधिकतर संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद है। सम्प्रदाय की रचनाओं का साहित्यिक मूल्य न होकर केवल साम्प्रवायिक–मत–प्रतिपादन मात्र है। इनकी भापा भी अपभ्रंश से कुछ पृथक "फक्कड़ी" वन गई है।

धीरे धीरे अपभ्रंश भाषा में जब संस्कृत तस्सम शव्दों की अधिकत्म होती गई तव हिन्दी का जन्म हुआ। यही अपभ्रंश वास्तव में हिदी का प्रारम्भिक रूप है संस्कृत का भ्रट रूप नहीं। पृथ्वी राजा के दरबारी कवि चन्द्रवरदाई को हिंदी भापा का आदि कवि माना जाता है किंतु विद्वानों ने उसे वास्तव में अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक माना है हिंदी का आदि कवि कम। विद्यापति ने भी पूर्वदेश मे एक ही साथ तत्कालीन लोक भापा और अपभ्रंश दोनों में काव्य लिखा है।

आप्रतिक सम्पूर्ण भारतीय आर्यभाषाओं की जननी अपभ्रंश है। आचा श्री चदुर सेन शास्त्री के शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक वात यह भी हमें जानलेनी चाहिए की जैसी पुरानी हिंदी अपभ्रंश है वैसी ही प्ररानी मराठी, इंडिया. वंगला, आसामी, गोरखी, पंजावी और गुजराती भी। वास्तव में उन्हें भी अपभ्रंश को उसी प्रकार अपनी वर्तमान प्रांतीय भाषाओं की माता कहनेका अधिकार है जिस प्रकार हम उसे वर्तमान हिन्दी की माता कहते हैं"।

(श्री हर प्रसाद शास्त्री)

भूषण और राष्ट्रीयता

जहां बिहारी आदि श्रंगारिक कवियों ने विलास पूर्ण जीवन से प्रभावित होकर नायिका के हाव भाव पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की, वहां भूषण ने इसी विलास पूर्ण जीवन से प्रतिक्रिया स्वरूप वीर-काव्यों की रचना की। बिहारी का श्रंगार इस शत-शत दोहों से प्रवाहित से चला और भूषण के काव्य ने खण्डकाव्यका आश्रय लिया। क्योंकि उसने देखा कि वीरता वह चुकी थी, उसी विलासिता के प्रवाह में. एकता के मूल सूत्र टूट चुके थे। भूषण राष्ट्रीय कवि थे, किन्तु उनकी कविता पर अराष्ट्रीयता का दोष लगाया जाता है। अन्य दोषारोपणों की भांति यह आक्षेप भी मिथ्या है। भूषणके काव्यकी सबसेबड़ी विशेषता यह है कि उसमें जातीय भावों का प्रभाव है। यह सत्य है कि उसकी राष्ट्रीयता निसन्देह ही शिवाजी के आदेश की भित्ती पर निर्धारित है। किन्तु शिवाजी हिंदी-राष्ट्र के प्रतिनिधि थे। जनता उनकी श्रद्धा का अर्घ्य देती थी। भूषण ने शिवाजी का आधार लेकर वीरत्व एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रणयन किया है। वे भावनाएं आज भी वॉच्छित है। उनके काव्य में सामाजिक द्वेष तथा अराष्ट्रीय भावना की गन्ध मात्र भी नहीं है।

भूषण से पहले जितने भी कवि थे उनमें भावों का अभाव था। जहां राजनितिक कारणों से युद्ध हुआ वहां भी उन्हें न लेकर किसी रूपवती कामिनी की ही युद्ध का कारण कल्पित कर के उन वीर

कवियोंने अपनी रचनायें कीं। भूषण ही ऐसे महाकवि थे, जिनकी कविता में सबसे प्रथम हिन्दू जाति का नाम सुनाया गया। जो अपने नायक की प्रशंसा केवल इसलिये करते हैं कि वह हिंदू जाति की रक्षा करने वाला है हिन्दुत्व की उज्जवल करने वाला है, उनकी विजयों को भूषण वैयक्तिक विजय नहीं मानते अपितु हिन्दुओं की विजय मानकर कहते हैं :—

"पच्छिन-धरन धीर-धरण खुमान गढ़
लेत गढ़ धरन सो धरम प्रवारू है।
साहि न साह को सपूत महाबाड लेत,
मुकक महान छिनि साहिन की भारू है।
संगर में सरजा शिवाजी मारे सैनन को,
सारू दरि लेत हिन्दुवान सिर सारू है।
भूषण पुसिल जय जस को पहारू लेत,
हरजू की दारू हर जन को अहारू है॥

यह घोषणा सर्व प्रथम इन्हीं की कविता में हुई।

आपस की फूट ही से सारे हिन्दुवान टूटे,
टूट्यो कुल रावन अनिति-आनि करतें।
पैठिजों पताल भलि वज्र धर ईष्या तें,
टूट्यो हिरनाच्छ अभिमान चित करतें॥
टूट्यो सिसुपाल वासुदेवजू मों बेरे करि,
टूट्यो है महिष दैत्य ऊधम विचरतें॥
रामकर छूवन तो टूट्यो ज्यों महेष-चाप,
टूटी पात साही सिवराज संग करतें॥

भूषण ने अपना सम्पूर्ण जीवन देश में राष्ट्रीय भावनाओं को फैलाने में ही व्यतीत किया था। इस का कारण स्पस्ट है कि हिन्दुओं के वैर-भाव, जाति-विभिन्नता ने कवि के अन्तस्तल में उथल-पुथल मचा दी थी। हिन्दुओं के परस्पर के वैषम्याधिक्य से वह आकुल-व्याकुल हो उठा। कवि को हिन्दुओं की असहायावस्था भी चुभती थी।

विशेषतः महाराजा प्रताप के वंशज राणा का। महाकवि ने शिवाजी के बाद छत्रसाल बुन्देला की केवल इसलिए प्रशंसा की थी कि इन्होंने–

"हैबर हरह साजि गैबर गरह सबै,
पैदर के ठट्ट फौज जुरी लरकाने की।
भूषण भनत राय चंपति को छत्रसाल,
रोप्यो रन ख्यात है कि ढाल हिन्दुवाने की।

कैयक हजार एक बार बैरि मार डारे,
रंजक दगिन मानों अगिनि रिसाने की।
सैद अफ़गन-सेन सगर-सुतन लागी,
कलित-सराय लौं तराय तोपखाने की।"

उस समय हिन्दुओं पर धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक तीनों प्रकार की आपदायें आई हुई थी। इन विपत्तियों से भूषण का भी हृदय आतुर हो गया। पर कवि निराशा के आँसू बहाने नहीं बैठा। उसने हिन्दुओं को संगठित करना और उनकी जातीय आवेश और राष्ट्रीय जागृति का प्रणयन करना अपना ध्येय बना लिया। भूषण ने इसी प्रेरणा से अपनी काव्य रचना की। तथा इसी से प्रेरित होकर अनेक छोटी–बड़ी रियासतों को भारत के इस राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया था।

भूषण की वाणी हिन्दु-जाति की वाणी थी। इसी विशेषता के कारण वे हिन्दुओं के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भूषण स्वभाव से मुसलिम विद्रोही न थे। परन्तु औरंगजेब के अत्याचारों की अनुभूति बड़ी कटु थी। वे जो कुछ न थे, इन अत्याचारों ने उन्हें वह बना दिया। औरंगजेब ने विशेष कर उनकी क्रोधाग्नि का अनुभव किया। बाबर और अकबर से भूषण क्रोधित न थे। भूषण ने देखा हिन्दुओं की जागृति औरंगजेब के पाशविक अत्याचारों से ही हो सकती है।

"कीरति सरिति जो प्रताप सरजा में धर,
मारतंड मध्य तेज चाँदनी सो जानी मैं,

सोहत उदारता मौसीलता स्वभाव मैं सों,
कंचन में मृदुता सुगन्धता बरवानी मैं।
भूषण कहत सब हिन्दुन की भाग फिरै,
चढ़े ते कुमति चकतादू की पिसानी मैं,
सोहत सुबेस पान कीरति शिवा मे सोह,
निरखी अश्य राचि मोतिन के पानी मैं।

और इसी कारण वे औरंगजेब को इमके पूर्व प्रसधों को याद दिलाकर शिवाजी से मेल करने की सलाह देते हैं। उनका आन्दोलन औरंगजेब की साम्राज्यवाद और पैशाचिक कृत्यों के विरूद्ध था, न कि मुसलमान–सम्प्रदाय के विरोधी स्वरूप। यही कारण था कि वह बीजापुर, गोलकुण्डा की जो कि शिया रियासतें थी हिन्दुओं के संगठन में मिला चुके थे।

कहीं कहीं पर भूषण ने मुसलमान के विरुद्ध कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। इससे उनकी भावनाएं हिन्दुओं के लिए कितनी उत्कृष्ट स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहत छातौ,
बाढ़ी मरजाद जैसी हद हिन्दुवाने की,
लोढ़गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥

भूषण भनत दिल्लीपति दिल धन्य धन्य,
सुनि सुनि धान्य सिवराज मरयाने की,
मोटी भई चड़ीं बिन चीटी के 'चबाय सांस.
खोटी भई सम्पत्ति चलवा के कराने की।

जो वर्त्तमान समय की दृष्टि से कुछ अनुचित नहीं है। परन्तु इन शब्दों में कहीं भी इस्लाम धर्म के प्रति उनकी द्वेष भावना नहीं मिलती। यह उद्गार भूषण के जो जातीयता और स्वदेश प्रेम के नाते उनके हृदय से निकले हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि मुसलमान उस समय विदेशी ही थे, जो एक स्वतन्त्र राज्य

को परतंत्रता की बेड़ियां पहना कर स्वयं उपभोग कर रहे थे। उस समय की बात ही दूर रही, आज भी मुसलमान अपने को विदेशी बतलाकर गर्व मानते हैं। भूषण का प्रयत्न था खड़ग उठा कर हिन्दू जाति का रण भेरी की ध्वनि पर चल उठना, हिन्दुत्व को अपना व्यक्तित्व न खोने देना। वह चाहते थे कि भारत भारतीयों का रहे, स्वतन्त्रता उसका तिलक करे और हिन्दू एवं हिन्दुत्व की मान-मर्यादा पर पदाघात न हो सके। यदि उनकी इन भावनाओं के प्रति आवाज़ उठाई जाती है, और यह कहा जाता है कि वह अराष्ट्रीय थे, वो यह नितान्त भूल है।

भूषण ने पददलित हिन्दू जाति को संगठित करने का उद्योग किया और हिन्दू समाज को संकुचित भावनाओं को उखाड़ने का प्रयत्न किया। अकबर के समय वैवाहिक सम्बन्धों के कारण जो हिन्दू एक दूसरे के शत्रु बन बैठे थे, उन्हें फिर से एकता के सूत्र में बांध देने का ही प्रयत्न भूषण ने किया। अपने समकालीनी विभूतियों—बाजी-पेशवा, छत्रसाल बुन्देला और सवाई जयसिंह को पारस्परिक मैत्री में आवद्ध कर देना भूषण का ही प्रयत्न था। यह विभूतियाँ उस समय हिन्दू जाति के प्राण थीं। भूषण स्वयं मराठा न थे। लेकिन शिवाजी से बाजीराव पर्यन्त मराठा विजेताओं की विजय यात्रा का उन्हें उतना ही गर्व था जितना स्वयं मराठों को।

भूषण हिन्दू थे, हिन्दुत्व के परम अभिमानी थे और इस नाते भारत के परम सेवक कहे जाने योग्य हैं। आज भारत को अपनी दलित अवस्था में इसी प्रकार के युवकों की आवश्यकता है जो देश में स्वदेश प्रेम का प्रचार और विदेशीय भावों की जड़ काट दें।

(सुश्री राधा कुमारी सक्सेना)

———

महादेवी वर्मा और उनकी देन

महादेवी वर्मा का जन्म शिक्षित घराने में हुआ था। इनकी माता कलाप्रिय तथा विदुषी थीं। अतः ये भी संगीत, चित्र और काव्य कलाओं में बाल्यकाल से ही दक्ष हो गईं किन्तु ११ वर्ष में इनका विवाह हो गया था। बौद्ध दर्शन के अध्ययन ने आपको भिक्षुणी बनने को प्रोत्साहित किया—परंतु अनुमति न मिल सकी। इसके पश्चात् इन्होंने संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा पास कर प्रयाग की आचार्या बन गईं और सेवा भाव द्वारा अपनी साधना को अब तक पूर्ण कर सकी हैं। आप पीड़ितों की सर्वदा सहायक रही हैं। अवकाश के समय आप साहित्य की सेवा करती हैं।

आपको कवित्व की प्रेरणा अपनी माता के उपासना समय में गाये गये मीरा के पदों से मिली है। आपके गुरू ब्रज भाषा के पक्षपाती थे। अतः खड़ी बोली की कविता करने में आपको कुछ बाधाओं का सामना करना पड़ा। चुपके २ आपने 'विधवा' आदि कुछ घटनात्मक रचनाओं द्वारा अपनी कामना पूर्ण की। "नीहार" 'रश्मि' 'नीरजा' 'सांध्यगीत' आदि आपकी कविताओं के संग्रह छप चुके हैं। ये सभी कवितायें 'दीप-शिखा' और 'यामा' नामक दो बड़े संग्रहों में भी संकलित कर दी गई हैं। पद्य के साथ साथ गद्य में भी आपका प्रभाव अच्छे २ गद्य लेखक और आचार्य स्वीकार करते हैं। विश्व भर में ऐसे महान् व्यक्तित्व को धारण करने वाली स्त्री का मिलना कठिन है।

छायावाद के मुख्य कवियों में उनकी गणना की जाती है। प्रसाद, पंत और निराला ने अपने अपने ढंग से छायावाद को समुन्नत किया। इन सबकी कला वाह्य प्रेरक ही अधिक रही है। प्रसाद ने छायावाद को सर्व प्रथम आरम्भ करके, निराला ने नवीन छंदों का श्रीगणेश करके तथा पंत ने प्रकृति सम्बन्धी नवीन शब्दावलि का प्रयोग करके जहाँ छायावाद के साहित्य वैभव को सम्पन्न किया। वहाँ महादेवी जी ने आत्मप्रेरक गीत रच कर गीति काव्य के माध्यम

से हृदय की कोमल भावनाओं को अभिव्यक्त करने में ही कला प्रदर्शित की है।

श्रीमती वर्मा की कविता निर्दोष और निश्चल वन कुसुम के समान आह्लादक है। कला पक्ष पर जोर न देकर हृदय पक्ष पर ही वर्मा जी अधिक झुकी हैं। वेदना और करुणा की मात्रा इतनी अधिक है कि गीतों के रस के साथ २ टीस उठकर उसे और भी अधिक मोहक बना देती है। यह प्रभाव उनके जीवन की गहन परिस्थितियों के कारण ही है। सम्पन्न घराना, ललितकलाओं की शिक्षा, बालविवाह, बौद्ध धर्म का प्रभाव, दार्शनिक अध्ययन, पति से रहित एकाँत जीवन, सेवा-भाव और मां के गीतों की छाया इन सबने मिलकर महादेवी वर्मा के एक अप्रतिभ कलाकार बना दिया है। दार्शनिक चिन्तन और भाव-पक्ष के द्वारा इन्होंने छायावाद में अपना पृथक् स्थान बनाया है और एक मात्र रहस्यवादिनी कवियत्री के रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। इनकी देन हिन्दी साहित्य के लिये चिर अमर हैं।

(श्री योगेश्वर चन्द्र)

पद्मावत एक अध्ययन

पद्मावत जायसी की सर्व श्रेष्ठ कृति ही नहीं वल्कि हिन्दी साहित्य की सर्व श्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। इसकी तुलना रामचरित मानस से की जाती है। इसमें इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है। इसका पूर्वार्द्ध अधिकतर कल्पित है। पद्मावत और रामचरित मानस की भाषा अवधी और दोहा, चौपाइयों, छन्दों को लिये हुए है। पद्मावत में अध्याय नहीं हैं, वल्कि इसके ५८ खण्ड हैं। जैसे सुआ खंड आदि। यह हिन्दी का सर्व प्रथम काव्य है जिसमें प्रकृति का समीचीन रूप देखने को मिलता है।

प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से मानव जीवन की सर्वांगीण व्याख्या प्रकृति वर्णन, कथासूत्र का उचित निर्वाह, चरित्र चित्रण आदि का इसमें,

सफलता पूर्वक लेखन किया गया है। यह ग्रन्थ फारसी की मसनवी शैली पर लिखा गया है—इसमें नागरिक जीवन, राजकुमार और राजकुमारियों के प्रेम-वर्णन बड़े कलात्मक ढंग से किया गया है। इसमें दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त युद्ध, कलह, मातृस्नेह, स्वामी-भक्ति, वीरता, कृतघ्नता आदि के वर्णन बड़े सजीव हैं। इसमें अधिकतर शृङ्गार रस है। इसका नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। इस ग्रंथ का अन्त नागमती और पद्मावती के सती हो जाने से हिन्दुत्व का ही बोधक है। शुक्ल जी के ये वचन कि 'जायसी जन्म से मुसलमान किन्तु धर्म से पक्के वैष्णव थे' सत्य से प्रतीत होते हैं।

पद्मावत भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टि से उत्तम रचना है। इसके प्रेम वर्णन में विलासिता कोसों दूर भाग गई है। इसकी भाषा विशुद्ध तथा विदेशी भाषा के शब्दों से प्रायः मुक्त रही है। इन्होंने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा नहीं है। माधुर्य गुण इनकी कविता का प्राण रहा है। इस कृति में सभी प्रकार का वर्णन है फिर भी प्रेम की पीर का रंग ही अधिक माना जायेगा—कुछ आलोचक प्रेम के वर्णन को अस्वाभाविक बताते हैं। जैसे बिना देखे रत्नसेन का पद्मावती से प्रेम करना। इसके लिये इतना कहना ही पर्याप्त है कि जिस प्रकार परमात्मा का दर्शन किये बिना ही भक्त लोग उस अदृश्य के प्रेम में रात दिन व्याकुल रहते हैं। उसके दर्शन के बिना ही प्रेम किये जाते हैं, उसी प्रकार उसने किया। अतः यह प्रेम का प्रकार अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

जायसी ने पद्मावत की कथा लिख कर प्रेम का रूप हमारे सम्मुख रखा। रत्नसिंह के रूप में स्वयं जायसी ही प्रेम की अलख जगाते फिरते हैं और नागमती के विरह में स्वयं ही अपने हृदय की व्यथा उन्होंने निकाल कर रख दी है। अतः इसमें प्रेम की पीर का ही मुख्य वर्णन है।

कथा

सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पद्मावती नाम की एक

सुन्दर कन्या थी। उसके पास हीरामन नाम का एक तोता था। वह तोता बड़ा बुद्धिमान था। जब वह पूर्ण यौवन पर थी तो उसके लिये योग्य वर ढूंढ़ने की चेष्टायें की गईं। पर राजा इसमें असफल रहे। तोते ने योग्य वर ढूंढ़ने की प्रतिज्ञा की और वहां से उड़ गया। वह एक शिकारी द्वारा पकड़ा गया। शिकारी ने उसे ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। ब्राह्मण ने तोते को चितौड़ के राजा रत्नसेन से एक लाख टके लेकर उन्हें दे दिया। तोता अन्तःपुर में रहने लगा। एक दिन चितौड़ की महारानी नागमती ने शृङ्गार करते समय तोते से अपने सौन्दर्य के विषय में पूछा। किन्तु तोते ने उसकी प्रशंसा न करके पद्मावती की प्रशंसा की। किसी अज्ञात आशंका के भय से महारानी ने दासी को मारने की आज्ञा दी, किन्तु दासी ने उसे राजा के सम्मुख उपस्थित कर दिया। उस समय तोते ने रत्नसेन को पद्मावती के मनोहर लावण्य का वर्णन सुनाया। तत्काल ही वह योगियों के भेष में उसे लेकर अपने साथियों सहित सिंहल द्वीप पहुंचा। पद्मावती उससे मिलने आई। किन्तु वह उसकी रूपमधुरिमा को देख कर मूर्छित हो गया। पद्मावती वापिस लौट गई। राजा ने गढ़ पर चढ़ाई कर दी किन्तु पकड़ा गया और मृत्यु दण्ड मिला। इतने में महादेव ने प्रकट होकर उसको जीवन दान दिलाया और उसका विवाह पद्मावती से कर दिया। राजा चितौड़ लौट आया।

किसी अपराध के कारण राघव चेतन को देश निकाला मिला। उसने अलाउद्दीन को भड़का कर चितौड़ पर आक्रमण करा दिया। धोके से रत्नसेन बन्दी बना लिये गये। पद्मावती अपने वीर योद्धाओं की सहायता से उसको बन्धन मुक्त करा लेती है। गोरा बादल का घमासान युद्ध होता है और अन्त में देवपाल के साथ युद्ध करते हुए रत्नसेन मारे जाते हैं और दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं।

पद्मावत में अध्यात्मवाद की झलक

ग्रन्थ को समाप्त करते हुए जायसी ने लिखा है कि 'राम चित उर मन कीन्हा ......' अर्थात् रत्नसेन मन है, पद्मावती बुद्धि है,

तोता गुरू और राघव चेतन शैतान है, अलाउद्दीन माया का रूप है। इसको पढ़ने के पश्चात् कुछ विद्वान इस ग्रन्थ को आध्यात्मिक काव्य बताते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि जायसी सूफ़ीवादी कवि थे। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में भी 'प्रेम की पीर' का ही वर्णन किया है। उन्होंने ईश्वर को सौन्दर्य अथवा प्रेम का रूप मान कर माधुर्य भाव से उसकी उपासना की है। अतः कण कण में उसे अपने प्रियतम का सौन्दर्य दृष्टि गोचर हो भी जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि प्रियतमा का लावण्य वर्णन करते समय भगवान का सौन्दर्य स्मरण करना आध्यात्मवादियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। ऐसा कहा जाता है कि आत्मा और परमात्मा के मिलन हो जाने पर माया कोई बाधा नहीं डालती। परन्तु यहां पद्मावती का विवाह रत्नसेन से हो जाने पर भी अलाउद्दीन (माया) अपना जाल फैलाये रखती है। अतः साध्य रूप में आध्यात्मवाद जायसी ने नहीं लिखा है। हां, इतना अवश्य कह सकते हैं कि जिस प्रकार तोते के मुख से सुन कर भी और अनेक कष्टों को सहन करके भी रत्नसेन पद्मावती के पा सका, ठीक वैसे ही एक साधक गुरू-मुख से परमात्मा का गुण गान सुन कर अनेक तपस्याओं के पश्चात् उस परमात्मा से मिल जाता है। इतने अंश में ही इसमें अध्यात्मवाद लिया जा सकता है।

जायसी की उदार भावनाओं ने लौकिक कथा को आध्यात्म रूप प्रदान किया है। इस भावना को रहस्यवाद कहते हैं। इस वाद की चर्चा इन्होंने बड़े अनूठे ढंग से की है। अतः यह रहस्यवादी रचना होने के कारण इसके लेखक को रहस्यवादी कह सकते हैं।

(सुश्री सुदेश शरण 'रश्मि')

———

मैथिलीशरण गुप्त का पंचवटी वर्णन

मैथिली शरण गुप्त जी की रचित पंचवटी एक खण्ड काव्य है। इस में बनस्थ श्री रामचन्द्र जी के परिवारिक जीवन की एक सुखसौन्दर्य से भरी झांकी दिखाई गई है। पंचवटी के शान्तवातावरण में शूपर्णखा राक्षसी कुछ हलचल मचा देनी है। किन्तु पात्रों के पारस्परिक प्रेम-भाव और उनके चरित्रों की उच्चता के कारण शान्त हो जाती है और राक्षसी अपने किये का फल भोगती है। गुप्त जी के वर्णन में एक विशेष सरसता आ गई है जो गोस्वामी जी के वर्णन में भी नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि गुप्त जी की पंचवटी खण्ड काव्य है। यह उसका प्रधान विषय है। इस में कर्त्तव्य के उच्च आदर्श के साथ मानव हृदय की कोमलता और जीवन की मधुरिमा के दर्शन मिलते हैं। गोस्वामी जी के वर्णन से इसमें भिन्नता है। पंचवटी के लक्ष्मण जी कर्त्तव्य परायण अवश्य है किन्तु उनके हृदय में मानवी कोमलता का स्रोत सूखा नहीं है। वे राम की पर्णकुटी के आगे भयावनी रात्रि में पहरा देते हुए बेचारी उर्मिला को भूल नहीं जाते। देखिये—

'बेचारी उर्मिला हमारे लिये व्यर्थ रोती होगी।
क्या जाने वह वन में हम सब होंगे इतने सुख भोगी॥"

गुप्त जी ने शूर्पणखा को ऐसे ही समय में उपस्थित किया है। जब कि लक्ष्मण जी को अधिक से अधिक प्रलोभन हो सकता है। एकान्त पाप का जनक है। धीर-व्रती लक्ष्मण वैसे समय में भी शूर्पणखा पर विजय पा सके। यह उनकी महत्ता को और भी उत्कृष्टता प्रदान करता है। गुप्त जी की शूर्पणखा लक्ष्मण से एकान्त में सीधी मिलती है और ऐसे अवसर पर भी महात्मा शुकदेव जी की भांति वे विचलित नहीं होते। लक्ष्मण जी के हृदय में मानव कोमलता थी किन्तु दुर्बलता नहीं।

रम्भा नाम की अप्सरा ने व्यासजी के पुत्र शुकदेव जी को प्रलोभन देकर उनका तपभ्रष्ट करना चाहा था। रम्भा उनसे कहती थी कि जिसने

यौवन के हास-विलास में भाग नहीं लिया उसका जीवन वृथा गया— "वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितं'—और शुकदेव जी कहते थे कि जिसने तप नहीं किया उसका जीवन वृथा गया। इसी रम्भा शुक संवाद का गुप्त जी ने उल्लेख किया है—

"कब से चलता है बोलो यह नूतन शुक—रम्भा संवाद"

लक्ष्मण ने शूर्पणखा का परिचय मात्र पूछा। वह चाहती थी कि लक्ष्मण उससे यह पूंछ कर कि "चाहती हो क्या ?" उसे प्रणय-निवेदन का अवसर दें। उसकी यह बात सुनकर लक्ष्मण जी ने कहा—

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, कि मैं विवाहित हूँ बाले।"

इतने में राम भी जाग जाते हैं। लक्ष्मण से निराश हो वह राम की ओर बढ़ती है, इसी सम्बन्ध में राम, सीता और लक्ष्मण का हास्य विनोद हो जाता है। पंचवटी का यह परिवार कर्त्तव्य परायण अवश्य है किन्तु मर्यादा के भीतर आमोद-प्रमोद में भी भाग लेता है। उन लोगों के जीवन में नीरसता नहीं है। राम के इशारे पर वह लक्ष्मण की ओर आकर्षित होती है। लक्ष्मण जी अपने उत्तर से—"बस, मौन कि मेरे लिये हो चुकी मान्या तुम" राक्षसी में बदला लेने की भावना को जाग्रत कर देते हैं और वह विकृत रूप धारण कर लेती है जिस के कारण सीता जी भी भयभीत हो जाती हैं। लक्ष्मन जी उसको अङ्ग-भङ्ग कर दण्ड देते हैं। देखिये—

"कि तू न फिर छल सके किसी को, मारूँ तो क्या नारी जान।
विकलांगी ही तुझे करूँगा जिस से छिप न सके पहचान ॥"

लक्ष्मण जी अपनी ही कर्त्तव्य बुद्धि से ऐसा करते हैं। 'पंचवटी' में राम नाक-कान काटने का इशारा नहीं करते और न वे अपने भाई को अविवाहित ही कहते हैं। गुप्त जी ने राम को इन कलंकों से बचा दिया है और शूर्पनखा को कुरूप बनाने का भी अच्छा कारण दिया है।

शूर्पणखा की विकृति के पश्चात् उस परिवार में पुनः शान्ति स्थापित हो जाती है और आमोद-प्रमोद चलने लगता है। लक्ष्मण

जी अपने को पुरुषार्थवादी कहते हैं उस पर सीता जी एक मीठी चुटकी लेती हैं:—

"रहो, रहो, पुरुषार्थ यही है पत्नी तक न साथ लाये।"

यह हास्य प्रमाणित करता है कि राम, सीता, लक्ष्मण राज्य से निर्वासित होने के कारण दुःखी न थे। गुप्त जी के आदर्श चरित्र भी मानव है मानवोपरि नहीं और वे कष्टमय जीवन में भी सुख की झलक दिखाने में समर्थ हुए हैं। सीता ने वन देवी की भांति पशु पक्षियों से भी निकट पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। देखिये:—

"खेल खिजा कर भी आर्या को, वे सब यहां रिझाते हैं।"

प्रकृति का इस राज परिवार के साथ पूरा साहचार्य दिखाते हुए पंचवटी में गुप्त जी ने बड़े सुन्दर प्राकृतिक चित्र उपस्थित किये हैं। अमल धवल चांदनी में पंचवटी की झांकी देखिये:—

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें,
खेल रही हैं जल-थल में।

स्वच्छ चाँदनी खिली हुई है,
अवनि और अम्बर तल में॥

पंचवटी में हम गुप्त जी को शुद्ध कवि के रूप में देखते हैं। इस ग्रन्थ में गुप्त जी की कविता, जयद्रथ-वध और भारत-भारती की भांति राजनीतिक विचारों के भार से दबी हुई नहीं है। अतः इसमें हम गुप्त जी की कला का अधिक विकसित रूप देखते हैं।

(श्री हरिशंकर एम० ए०)

———

रामचन्द्रिका-एक अध्ययन

रामचरित संस्कृत और हिन्दी कवियों का प्रिय विषय रहा है। केशव की रामचन्द्रिका का भी विषय रामचरित ही है। केशवदास जी ने कथा को आकर्षक बनाने के लिये अपने ग्रन्थ में नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। किन्तु वे इस कार्य में इतने सफल नहीं हुए जितने कि तुलसीदास जी। यद्यपि बीच-बीच में सम्वाद बहुत रोचक हो गये हैं और इस में अलंकारों की भी अच्छी छटा दिखाई गई है तथापि प्रबन्ध काव्य के लिये जो गुण अपेक्षित हैं उनका इसमें अभाव सा है। रामचन्द्रिका में वर्णित घटनायें एक दूसरे के सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ती। ऐसा प्रतीत होता है कि अलग अलग घटनाओं को एक कथा के घेरे में सजा दिया गया है। बीच बीच में आकस्मिक घटनाओं के द्वारा कथा प्रवाह की गति बदली गई है ऐसे स्थलों को देखकर तिलिस्मी उपन्यसों की याद आ जाती है। राम और परशुराम के संघर्ष में स्वयं महादेव जी का आ जाना कथा प्रवाह में बाधक होता है। मर्मस्पर्शी घटनाओं को उचित स्थान नहीं दिया है। राम का बन जाने के लिये तैयार होना और बिना किसी से बिदा लिये बन में उपस्थित हो जाना प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से एक खटकने वाली चीज़ है। रामचन्द्रिका के सम्वाद बहुत अच्छे हैं किन्तु उनमें अलंकार बाहुल्य प्रवाह की शृंखला में बाधा डालता है और इस ग्रन्थ को नाटक का सा रूप देता है। रामचन्द्रिका में कथा प्रवाह की अपेक्षा प्रत्येक छंद को स्वतंत्र रूप से सजाने की प्रकृति अधिक दिखाई पड़ती है जो मुक्तक-काव्य की विशेषता है। वृत्त कथन की अपेक्षा चमत्कारोत्पादन की ओर झुकाव अधिक है।

उपरोक्त प्रबन्ध दोषों के अतिरिक्त इसका प्रकृति चित्रण असफल रहा है और हृदय पक्ष भी शिथिल है। केशव के प्राकृतिक चित्रण कवि परम्परा के पालन के लिये ही हुए हैं वे स्वयं निरीक्षण पर अवलम्बित नहीं दीखते। शाब्दिक चमत्कार के आधार पर प्राकृतिक

दृश्य खड़े किये गये हैं। बेर और सेव के श्लेष पर ऐन्द्रि जालिक बाटिका सी उपस्थित की गई है।

"सेव बड़े नृप की जनुलसै, श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै।
बेर भयानक सी अति लगै, अर्क समूह जहाँ जगमगै॥

केशव के ऋतु वर्णन भी अलंकारों से प्रभावित होने के कारण अधिक सफल नहीं हो सके हैं। राज सभा में जीवन व्यतीत करने के कारण वे प्रकृति से कुछ दूर हो गये थे। मनुष्य निर्मित विहार-स्थलों के वर्णनों में उनको अधिक सफलता मिली है। रावण के अंतःपुर का वर्णन बड़ा विशद और सजीव है:—

"कहूँ किन्नरी, किन्नरी लै बजावै,
सुरी आसुरी बांसुरी गीत गावैं।
कहूँ पक्षिणी पक्षिणी को पढ़ाव,
नगी कन्यका पन्नगी को नचावे॥"

केशवदास जी जीवन के मार्मिक स्थलों को नहीं पहचान सके हैं। इस कारण उनकी कविता का हृदय पक्ष बहुत निर्जीव सा हो गया है। कहीं कहीं पांडित्य पूर्ण प्रदर्शन और उपेक्षा के उत्साह में पात्र और अपात्र का भेद भी भूल गये हैं। बन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को मातृ व्रत का उपदेश देना इसी प्रकृति का परिचायक है। अशोक वाटिका में सीता से वे बहुत मार्मिक विरह निवेदन कर सकते थे किन्तु वहां भी वे अलंकारों के फेर में पड़ गये हैं। देखिये:—

"श्रीपुर में, वन मध्य हौं, तू मग करी अनीत।
कहि मुदरी अब तियनकी, को करि है परतीत॥"

सीता की अग्नि परीक्षा के समय भी केशव का हृदय द्रवीभूत नहीं हुआ। उनकी तुलना के लिये कैलाश और इन्द्रपुरी तक की खबर ली है और उनकी उपमा रणचण्डिका से दी है जो करुणा की मूर्त्ति के लिये सर्वथा अनुपयुक्त थी:—

"महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी,

कि संग्राम की भूमि में चन्द्रिका सी।
मनो रत्नसिंहासनस्था सची है,
किधौं रागिनी राग पूरे रची है॥"

वीर, रौद्र और भयानक रसों के चित्रण में केशवदास को अधिक सफलता मिली है। किन्तु अधिकाँश स्थलों में अलंकारों की भरमार के कारण भावों का स्रोत सूखा सा दिखाई पड़ता है।

(श्री प्रेमचन्द गुप्ता)

उपन्यास क्या है ?

उपन्यास क्या है ? इस विषय पर अनेक मत हैं—कोई जीवन की गहराइयों के चित्रण को ही उपन्यास कह देता है, कोई कहानी के दीर्घकाय को ही उपन्यास समझ बैठता है। हो सकता है कि ये परिभाषायें उपयुक्त हों। क्योंकि मानव वाल्यकाल से ही रस प्रिय रहा है और उसकी प्रवृति गाथाओं के सुनने में अनादिकाल से ही लीन रही है ? कथा की कौतूहलता से मानवता तृप्त हो जाती है। इसी कहानी का विकास और विस्तार रूप बदलते बदलते उपन्यासों में परिणित होता गया। इस प्रकार से कहानी मां और उपन्यास उसकी सन्तान है।

उपन्यास का लक्षण स्थिर करना कठिन है। अंग्रेजी में 'नावेल' 'उपन्यास' कहलाता है। इसका अर्थ है 'नवीन'। उपन्यास शब्द नवीन नहीं है। संस्कृत साहित्य में इस शब्द की भरमार है। उपन्यास का वास्तविक अर्थ है 'सामने रखना'। नाटक और इतिहास की अपेक्षा सुव्यवस्थित रूप से उपन्यास मानव जीवन के पूर्ण चित्र को समाज के सामने उपस्थित कर देता है।

हिन्दी के विख्यात विद्वान डा० श्यामसुन्दरदास जी ने उपन्यास का लक्षण इस प्रकार किया है—"उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।" उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी 'मानव चरित्र के चित्र को उपन्यास' कहते हैं। उनकी राय में मानव चरित्र पर प्रकाश डालना तथा उसके रहस्यों को खोलना उपन्यास का मूल तत्व है।

अंग्रेजी की 'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' में ऐसी काल्पनिक कथा को उपन्यास बताया गया है जिसमें वास्तविक जीवन के प्रतिनिधि पात्रों और कार्यों का चित्रण किया गया है। श्री गुलाबराय एम० ए० के शब्दों में उपन्यास कार्य कारण श्रृंखला में बन्धा हुआ वह गद्य कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं के द्वारा मानव जीवन के सत्य के रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।" उपन्यासकारों के भी निम्न दो वर्ग हैं।

१. आदर्शवादी वर्ग। २. यथार्थवादी वर्ग।

ये दोनों वर्ग अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। परन्तु उपन्यास किसी एक वर्ग के आधीन रह कर श्रेष्ठ नहीं कहला सकता है। उपन्यास तो वहीं उच्च कोटि का कहला सकता है जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनों का ही समावेश होता है। आदर्श में जान डालने के ही लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास में यही विशेषता पाई जाती है। अतः उपन्यास के निम्न भेद पाये जाते हैं—

कथा प्रधान उपन्यास

ऐसे उपन्यासों में साहित्यकार का ध्यान विशेष रूप से उपन्यास की कथा और घटनाओं पर रहता है। वह पाठक तथा श्रोतागणों को कथा के सौन्दर्यजाल में फंसा कर रखना है और उसी जाल से अपने उपन्यास को रोचक बनाने का प्रयत्न करता है। घटना के अभाव में कथा का सूत्र कहीं भी टूटने नहीं पाता।

चरित्र प्रधान उपन्यास

इन उपन्यासों में घटना की अपेक्षा चरित्र चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ये उपन्यास जीवन की समस्याओं के सूत्र से आरम्भ होते हैं और उसके आधार पर चरित्रों का निर्माण होता है। ऐसे उपन्यासों के पात्र मानव जाति के चरित्रों के प्रतीक बन कर अग्रसर होते हैं। ऐसे उपन्यासों के सन्मुख एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है और चरित्र चित्रण में जितनी स्वतन्त्रता उसे होती है उतनी और किसी लेखक या साहित्यकार को नहीं। अतः उपन्यासकार का

चरित्र चित्रण सबसे पूर्ण होता है। इस श्रेणी के उपन्यास सबसे उत्तम माने जाते हैं।

सामाजिक उपन्यास

इन उपन्यासों में उपन्यासकार समाज के आदर्शवादी और यथार्थवादी चरित्रों को प्रस्तुत करता है। देश और समाज के लिये ऐसे ही उपन्यास हित कर सिद्ध होते हैं। मुन्शी प्रेमचन्द जी की लेखनी अधिकतर ऐसे ही उपन्यासों पर चली है।

ऐतिहासिक उपन्यास

इन उपन्यासों में कथा प्रधान और चरित्र प्रधान दोनों ही रूप हो सकते हैं। क्योंकि ऐसे उपन्यासों के पात्र और कथा ऐतिहासिक होती हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि इसमें कल्पना को स्थान नहीं दिया जाता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना के आधार पर इसमें रोचकता पैदा करने के लिये कथा में उलट फेर भी कर सकता है। परन्तु वह उलट फेर काल और प्रधान घटनाओं के स्थान पर नहीं हो सकता है। ऐसे उपन्यासों में श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का स्थान उल्लेखनीय है।

चरित चित्रण की प्रधानता उपन्यास में मुख्य है। अतः जीवन की जितनी सुन्दर विवेचना इसमें होसकती है उतनी अन्य किसी साहित्यिक रचना में नहीं। अतः उपन्यासों का साहित्य में विशेष महत्व है।

(सम्पादक)

"शेखर—एक जीवनी"

'शेखर— एक जीवनी' श्री अज्ञेय की उन कृतियों में से एक है, जिनके कारण हिन्दी जगत ने उन्हें एक सफल उपन्यासकार के रूप में देखा है। प्रस्तुत पुस्तक का कलेवर तीन वृहद ग्रन्थों में समाविष्ट किया गया है, परन्तु इन तीनों ही भागों में एकसूत्रता है। लेखक के अपने शब्दों में, 'इन तीनों भागों में एक एकान्तता है; कालीन के रंग बिरंगे बाने को जैसे मोटे और सख्त बटे हुए सूत का एकरंगा ताना धारण करता है और सहता है, उसी प्रकार जीवन के तीन भागों की रंगीन गाथा में मेरे अभिप्रेत, मेरे कथ्य का एक तन्तु है, जो एक है, अविभाज्य'।

'शेखर' की रचना ने 'अज्ञेय' को हिन्दी साहित्य में ज्ञेय बना दिया है। कुछ विद्वानों ने उनकी इस रचना को जीवनी माना है और कुछ आलोचक इसे उपन्यास मानते हैं। परन्तु निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो यह न तो जीवनी ही है और न उपन्यास ही। जीवनी इस लिए नहीं है, क्योंकि इसमें घटनाओं का तारतम्य नहीं है। उपन्यास इस लिए नहीं है, क्योंकि इसमें धारावाहिकता का अभाव है। 'शेखर' का लेखक मानसिक क्षितिज पर खड़ा होकर जीवन की मीमाँसा कर रहा है। मृत्यु का साक्षात्कार करने वाले साधक में एक अलौकिक दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इसी दृष्टि के आधार पर उसकी जीवनतंत्री में स्वर-लहरी उत्पन्न हो गई है। अतः औपन्यासिक तत्वों पर आधारित न होते हुए 'शेखर' मानव जीवन का आत्म विवेचन है। जीवन के मनोवैज्ञानिक विकास का प्रत्यावलोकन है। परन्तु रचना के नामकरण के आधार पर यह मालूम होता है कि 'शेखर' के रचयिता को इसे 'एक जीवनी' पुकारना ही अभीष्ट है।

कुछ लोगों का मत है कि 'शेखर' श्री 'अज्ञेय' के निजी अनुभवों का प्रेत है, क्योंकि इसमें वर्णित लगभग सभी घटनाएं लेखक के जीवन से मेल खाती हैं। यह किसी हद तक ठीक भी हैं। लेखक के जीवन की छाया 'शेखर' के जीवन दर्शन पर अवश्य पड़ी है। भले

ही लेखक और शेखर के जीवन की घटनाएं भिन्न रही हैं, परन्तु उनके अन्दर जिस प्रेरक शक्ति का—जिसका स्थान २ पर दर्शन होता है, उसके कारण यदि लेखक को ही शेखर मानने की भूल हो जाय तो कोई बड़ी बात नहीं। इस झमेले को लेखक ने अपनी भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने 'शेखर' को अपने निजी संघर्षों के दस्तावेज के साथ ही साथ वर्तमान युग की संघर्षमयी आत्मा का प्रतीक माना है।

शिशु-मानस के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्राप्त होने वाली 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम' की झाँकी, 'शेखर' के कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि और मानसिक अनुभूति की परिचायिका है। भय, हठ, जिज्ञासा, स्वत्व; स्नेह, सहानुभूति, अनुकरण, क्रीड़ा आदि न मालूम कितनी प्रवृत्तियों का सहारा लेकर शिशु मानस विकासोन्मुख होता है। इन सब प्रवृत्तियों के दर्शन हमें 'शेखर' में होते हैं। परन्तु शैशव में ही मनुष्य-जीवन की गम्भीर समस्याओं का चिन्तन 'शेखर' के जीवन में एक विशेष त्रुटि मालूम होती है। यदि शिशु शेखर की भावुकता का उदय कुछ विकसित आयु के साथ दिखाया जाता, तो उसके चरित्र में और अधिक स्वाभाविकता आ जाती। एक बात और। श्री 'अज्ञेय' ने शेखर के सुकुमार शैशव से ही उसमें विद्रोहीपन का अंकुर दिखाया है। बढ़ती आयु के साथ ही साथ विद्रोह की यह अग्नि भी बढ़ती जाती है। अन्त में वह विद्रोही मानव अपने आप को फांसी के तख्ते पर खड़ा पाता है। बस, यहाँ पहुँच कर विद्रोही एक महान् द्रष्टा बन जाता है।

'शेखर' की जिज्ञासा को सांसारिक अनुभवों के आधार पर ईश्वर के विषय में जो परिज्ञान हुआ है, उसके आधार पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक के मन में ईश्वर की सत्ता के विषय में कोई निर्णयात्मक विचार नहीं हैं। कुछ स्थलों पर तो लेखक की वृत्ति का झुकाव नास्तिकता की ओर ही अधिक जान पड़ता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों को देखिए:—

'जब कभी मां कहती 'बेटा घबराओ नहीं, ईश्वर सब अच्छा करेंगे,' तब वह चाहता कि फट पड़े, बरस पड़े। पूछे कि क्या युद्ध

अच्छा हुआ ? भूख अच्छी हुई है ?......इतने लोग बीमार पड़े, अच्छा हुआ है ? मरे, अच्छा हुआ है ?'

'ईश्वर यदि है तो वही है, जिसके बारे में यह भी नहीं कह सके कि वह है; जो हमारे विश्वास के वृत्त से भी बाहर हो ... ईश्वर वही है जिसके बारे में हम निश्चय पूर्वक कह सकें, 'वह नहीं है।

शेखर एक बुद्धिवादी जीव है। उसके इस बुद्धिवाद ने उसे प्रकृति का उपासक बना दिया है। यह है भी स्वाभाविक। एक बुद्धिवादी मानव संसार के सृजन और संहार का कारण निसर्ग को ही मानता है। अतः शेखर के जीवन का विकास नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सहारा पाकर इतनी गति के साथ आगे बढ़ता है कि संसार के अहिंसा, सत्य आदि सिद्धान्तों में निहित आदर्श पीछे रह जाता है। उसकी अहिंसा उसी दिन समाप्त हो जाती है, जिस दिन वह अपने हाथ से लिखी पुस्तक को गाय को अर्पण कर देता है। उसके जीवन का सत्य उसे ब्राह्मण होस्टल से निकाल कर ही लापता हो जाता है। उसकी सहानुभूतिपूर्ण निष्कपट मैत्री उसी क्षण रफूचक्कर हो जाती है, जब कुमार की ओर से उसे यथार्थ का पाठ मिलता है। उसकी निष्काम सेवा-भाव 'ऐन्ट गोनस-क्लब' जीवन लीला के साथ ही समाप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुतः रचना की प्रत्येक घटना शेखर के जीवन के साथ टक्कर खा कर और उसे अधिक गति देकर, सागर में उत्पन्न हुई लहर के समान उसी में विलीन हो गई।

नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन और पुरुष के जीवन में उसके स्थान का निरूपण, 'शेखर' की अपनी विशेषता है। नारी के अभाव में पुरुष और पुरुष के अभाव नारी के जीवन की गाथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत रचना की अनेक घटनायें साक्षी हैं।

शेखर के कलाकार 'अज्ञेय' भाषा के एक सफल शिल्पी हैं। उनकी इस रचना का कोई भी पृष्ठ उठाकर देख लीजिये। आपको सरल, हृदयस्पर्शी और रोचक शब्दावली का ही साक्षात्कार होगा। उदाहरण के लिये देखिए:—

'माच्छन्न आकाश। प्रकाशहीन सायंकाल। पवन अचंचल। चंचला भी अदृश्य''''एक नशा सा शेखर पर छा गया। उसके शरीर में फैल गया। उसकी सांस तीव्रगति से चलने लगी, उसका शरीर तप सा गया, उसे लगने लगा कि उसकी छाती के भीतर कहीं शीशा उबल रहा है। वह औंधा हो गया, और शरीर की सारी शक्ति से धरती से चिपटने लगा; क्रमशः अपने गाल और माथा उस गीली और शीतल घास पर दबाने लगा।'

भाषा का प्रवाह इतना धारावाहिक है कि एक ही सांस में सारी पुस्तक पढ़ डालने की इच्छा होती है। देखिये – नहीं, कहीं है, वह अबोध कहीं नहीं है, छुटकारा कहीं नहीं है मुक्ति! न बुद्धिमत्ता में, न बेवकूफी में, न एकान्त में, न साथ में, न कविता में, न नाटक में, न काम में, न निटल्लेंपन में, न घृणा में, न प्यार में—उस विशाल आततायी उदार पिता के प्यार में भी नहीं!'

भावनाओं के आवेग को बड़े मार्मिक शब्दविन्यास में पिरोया गया है। उदाहरणार्थ निम्नांकित उद्धरण को देखिए:—

'कह डालूं, अतः व्यथा को; बहा डालूं, अन्तर्वेदना को; बिखेर दूं; अन्तः ज्वाला को; लुटा दूं आन्तरिक अनुभूति को; दान कर जाऊं अपना अंतः शक्ति की चिरसंचित शिक्षाओं को अपने अंतः-करण के उन्माद को।'

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'शेखर' की भाषा मनोभावों की गुत्थियों को सुलझाती है। वह भावनामय तथा आवेश जनक है अतः पाठक हृदय को उद्वेलित कर देती है। हिन्दी गद्य के क्षेत्र में 'श्री अज्ञय' ने एक नया ही पथ प्रशस्त किया है। 'शेखर' मानव का दार्शनिक लेखा है। इस कारण सरलता के स्थल इसमें बहुत कम हैं। चिंतनप्रधान होने के कारण इसमें बौद्धकता का प्राधान्य है और पाठक को रस का उपलब्धि बहुत कम हो पाती है। फिर भी बौद्धकता और भावात्मकता का योग्य समन्वय करने में लेखक पूर्ण सफल हुआ है।

(श्री जानकी वल्लभ)

———

महाकवि दिनकर और कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र श्री दिनकर की नवीनतम काव्य कृति है। कामायनी तथा साकेत के पश्चात कुरुक्षेत्र को आधुनिक युग की प्रतिनिधि काव्य कृति कहा जा सकता है। यद्यपि कुरुक्षेत्र में गुप्त जी के साकेत की सी व्यापकता तथा प्रसाद जी की कामायनी की भाँति गम्भीर दार्शनिकता नही है। किंतु इसमें कोई सन्देह नही कि कुरुक्षेत्र में दिनकर जी आधुनिक युग की प्रमुख समस्याओं को स्पष्ट रूप से प्रकाश में लाने में सफल हुए हैं। महा भारत के एक अध्याय की पृष्ठभूमि लेकर दिनकर जी ने हमारे समक्ष एक जीवनदर्शन प्रस्तुत किया है तथा मानव व्यवहार की शिक्षा दी है। महाभारत के युधिष्ठिर-भीष्म संवाद को लेकर प्रस्तुत काव्य की रचना की है। किन्तु अधिकांश में दिनकर जी ने आधुनिक युग से ही प्रेरणा ग्रहण की है और दिन-प्रतिदिन की विषम समस्याओं का ही समाधान करने का प्रयत्न किया है।

कुरुक्षेत्र की प्रमुख समस्या

महाभारत के भीषण नरसंहार तथा चतुर्दिक करुण हाहाकार से संत्रस्त युधिष्ठर का मन और हृदय आत्मग्लानि से भर जाता है। विजेता की स्थिति में होते हुए भी उन्हें अपने चारों ओर युद्ध में वीर गति प्राप्त व्यक्तियों की आत्मायें व्यंगबाण छोड़ती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। उनके मस्तिष्क के सम्मुख नाना प्रकार के दृश्य उपस्थित होकर शीघ्र ही विलीन हो जाते है। वे स्वर्ग की ओर जाते हुए दुर्योधन को देखते रहे, जो उनकी ओर एक कुटिल व्यंगात्मक मुस्कान छोड़ते हुए स्वर्ग की ओर जा रहा है। अपने इसी शंकाकुल तथा द्विधात्मकता पूर्ण मानसिक संताप को लेकर वे भीष्म पितामह के सम्मुख उपस्थित होते हैं। युधिष्ठर को प्रतीत होता है कि उनके वैराग्य में छल, करुणा में दम्भ और न्याय में प्रतिशोध की अग्नि निहित है। किंतु भीष्म पितामह स्वयं ही बुद्धि तथा भावना के संघर्ष में उलझे हुए थे। युधिष्ठिर जिस प्रकार अपनी स्थिति

व्यक्त करते हैं और जिस प्रकार भीष्म पितामह उसका सतर्क समाधान करते हैं, यही कुरुक्षेत्र का मुख्य विषय है।

युद्ध की अनिवार्यता

कुरुक्षेत्र के प्रारम्भ में ही युद्धविषयक समस्या उठाई गई है। आखिर वह नरसंहार और विनाशकारी युद्ध जिसके कारण चारों ओर कुरूपता तथा भीषणता का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, किस कारण होता है। इसका मुख्य उत्तरदायित्व किस पर है—सम्पूर्ण पर—अथवा उसके नियामक तथा संचालक किसी व्यक्ति विशेष पर जिसके अंतर्मन में प्रसुप्त विचार एक भीषण विस्फोटक युद्ध ज्वाला के रूप में प्रकट होते हैं। युद्ध के औचित्य के प्रमाण में प्रायः यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि युद्ध देश तथा जाति के सम्मान की रक्षा के लिये किया जाता है। किन्तु लेखक इस तर्क को स्वीकार न करते हुए प्रश्न करता है कि क्या देश की लज्जा का विषय ही कोई तत्व है। लेखक की दृष्टि में व्यक्ति विशेष के हृदय में प्रज्वलित द्वेष और प्रतिशोध की भावना ही युद्ध के रूप में व्यक्त होती है। संक्षेप में युद्ध राष्ट्रीय नेताओं की मनः ज्वाला को शांत करने का उपक्रम मात्र है। फिर सहसा प्रश्न उठता है कि क्या कोई व्यक्ति विशेष युद्ध चाहता है। लेखक का मत है कि साधारणतः व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता, बल्कि उसे तो विवशतः युद्ध की भट्टी में अपने आप को झोंकना पड़ता है। युद्ध के कारण जो सर्वत्र कुरूपता तथा भयंकरता व्याप्त हो जाती है, दीर्घ काल तक जिस अवस्था का सामना करना पड़ता है उसके कारण कोई भी व्यक्ति से दूर ही रहना चाहता है। अपनी इसी दुविधा को ले कर युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के सम्मुख उपस्थित होते हैं।

जानता हूँ लड़ना पड़ा था
हो विवश, किंतु
लोहू सनी जीत मुझे
दीखती अशुद्ध है

ध्वंस जन्य सुख या कि
साश्रु दुख शान्ति जन्य
ज्ञात नहीं, कौन बात
नीति के विरुद्ध है
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र
में लिखा है पुण्य
इतना महान पाप यहां
फूटा बना बना युद्ध है।

युधिष्ठिर को इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म उसके स्वरूप तथा सत्ता का परिचय देते हैं। भीष्म युद्ध की तुलना उस आंधी से करते हैं जो एक वेग के साथ बन की अशक्त तथा कोमल लताओं को उखाड़कर फेंक देती है। बलिष्ठ और सशक्त शिलाओं वाले वृक्ष इससे भयभीत नहीं होते, न उनकी कोई क्षति होती है। तूफान के बाद बन की विध्वस्त स्थिति को देखकर शोक और सन्ताप करना जिस प्रकार मूर्खता है, उसी प्रकार युद्धोत्तर भीषण नरसंहार के परिणाम स्वरूप व्याप्त चतुर्दिक हाहाकार को देखकर आत्म ग्लानि में डूब जाना भी कायरता है। जिस प्रकार आंधी प्रकृति के भीषण आवेशमय प्रारम्भों का विस्फोट है उसी प्रकार युद्ध मानव समाज में संचित होने वाली विद्वेष और प्रतिशोध की वृत्तियों का विस्फोट है। जिस प्रकार आंधी और बवंडर का उत्तरदायित्व किसी एक वस्तु अथवा और व्यक्ति पर नहीं है, उसी प्रकार युद्ध का उत्तरदायित्व कोई व्यक्ति विशेष अपने ऊपर लेकर आत्मग्लानि में डूब जाय तो यह विडंबना ही होगी। युद्ध की चिनगारी व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होती है। युद्ध की ललकार सुनकर प्रतिशोध की भावना जागृत हो जाती है, रक्त खोलने लगता है और तलवार स्वयं हाथ में आ जाती है।

मानव बुद्धि से परे

इस प्रकार लेखक ने युद्ध को अनिवार्य और मानव बुद्धि से परे बतलाया है। युद्ध की अनिवार्यता के सम्बन्ध में दिनकर जी के अपने

तर्क अवश्य हैं किंतु युद्ध को रोकने का कोई अमोघ उपचार सुझाने में वे प्रायः असफल रहे हैं। युद्ध में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति व समूह या राष्ट्र की नैतिकता या औचित्य की परीक्षा भी लेखक ने एक ही कसौटी पर स्थित की है और वह है—ज्वलंत प्रतिशोध जो कभी पाप पूर्ण नहीं हो सकता, अर्थात् युद्धाग्नि में आहुति देने वाले के लिये विशुद्ध प्रतिशोध की भावना के अतिरिक्त और कुछ भी आवश्यक नहीं। युद्ध की अनिवार्यता के सम्बन्ध में दिनकर जी ने एक और भी तर्क उपस्थित किया है। तप, करुणा, क्षमा आदि गुण व्यक्तिगत धर्म हैं। यह सामूहिक गुण नहीं हैं अतः समाज में इनका प्रयोग सार्वजनिक रूप से नहीं किया जा सकता। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामूहिक धर्म भिन्न भिन्न होने की मान्यता के आधार पर युद्ध को चिरस्थायी मानने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अन्तिम और सम्भवतः सबसे अधिक प्रभावशाली तर्क है संसार में हिंसा की प्रधानता। धर्मनिष्ठ और अहिंसक व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प है। जब तक संसार में अहिंसक और अन्यायपूर्ण वृत्तियों की प्रमुखता रहेगी तब तक युद्ध अनिवार्यतः होते ही रहेंगे। किंतु लेखक ने उन अहिंसक प्रवृत्तियों के शमन का कोई मार्ग निर्देशन नहीं किया है।

युद्धों में अन्तर

स्वार्थ साधन के लिये किये गये युद्धों से लेखक ने धर्म युद्ध की तुलना भी की है। दलितों और शोषितों का क्रोध जब प्रतिशोध की भावना से प्रबुद्ध होकर जाग जाता है तब युद्ध धर्म युद्ध बन जाता है और वह न्यायोचित है। इस प्रकार दिनकर जी ने आधुनिक परि-स्थितियों में समाज को साम्यता के आधार पर प्रतिष्ठित करने का क्रांतिमय मार्ग सुझाया है और युद्ध की अनिवार्यता पर जोर दिया है।

कुरुक्षेत्र का जीवन दर्शन

कुरुक्षेत्र में भीष्म युधिष्ठिर को वैराग्य भावना त्याग कर जीवन क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। संन्यास ले कर वन

में पहुँचना कायरता है त्याग नहीं। जब तक एक भी मनुष्य के हृदय में सहानुभूति और करुणा का लेशमात्र भी है, तब तक मनुष्यता के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं। आधुनिक विज्ञान की प्रगति मनुष्य को मानसिक रूप से उन्नति की चरम सीमा पर ले गई। किन्तु इससे उसके हृदय का विकास नहीं हुआ है। बल्कि संकुचित हो गया है। जब मनुष्य के हृदय का विकास होगा। उसकी सद्वृत्तियां जागृत होंगी तथा पारस्परिकता, समता, समरसता, सामंजस्य का विकास होगा। तभी वास्तव में विश्वशांति का मार्ग प्रशस्त होगा। यही कुरुक्षेत्र का आधुनिक युग में सन्देश है।

(श्री सुरेश चन्द्र)

वियोगी होगा पहला कवि

न जाने कितनी ज्वाला भर कर अपने हृदय में, न जाने कितनी पीड़ा संजो कर सूने हृदय में कविवर पंत ने कहा होगा—

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान।
निकल कर नयनों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥"

इस आदिकालीन सत्य की शब्द-व्यंजना कितनी सुगमता से पंत जी ने करदी, यह कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है। इतिहास के पृष्ठ पलटने पर हमें ज्ञात होता है कि आदि कवि वाल्मीकि की प्रेरणा का स्रोत भी वियोग ही था। व्याध द्वारा पक्षी का हनन देख कर उनकी आत्मा में अव्यक्त टीस का, एक अनिर्वचनीय पीड़ा का अनुभव किया और उनकी पीड़ा का शब्दीकरण ही साहित्य में आदि कविता के नाम से जाना जाता है। उनके शब्द—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहिताम्॥"

आज भी संसार को उस प्रथम वियोगी की स्मृति से विभोर कर देते हैं।

'वियोग' का जो अर्थ ऊपर लगाया गया है वह 'वियोग' के साधारण अर्थ से कुछ भिन्न है। साधारणतः वियोग का अर्थ प्रियतम से विलग होने के उपरांत उत्पन्न हुए मनोभावों को कहते हैं और यह बात ध्यान रखने की है कि ये मनोभाव सदैव एक सूनापन, एक विकलता सी लिये होते हैं। आदि कवि, वाल्मीकि के वियोग के अनुभव में और साधारण वियोग के मध्य बहुत अधिक अन्तर है। साधारण जन तो केवल प्रियतम से विलग हो जाने पर ही वियोग की अवस्था का अनुभव कर लेते हैं, किन्तु महर्षि वाल्मीकि के वियोग का आधार संकुचित-मानव प्रेम न था, अपितु उनके प्रेम में एक सर्व व्यापकता थी, विश्व-बन्धुत्व था, वे केवल मानव-मात्र से ही नहीं, समस्त जीवों से प्रेम करते थे। दीर्घकाल तक निरन्तर तपस्या और भगवद्चिन्तन करते रहने के कारण उनका हृदय स्फटिक के समान निर्मल हो गया था और इस प्रकार उनके हृदय में, जब भी वे किसी को दैवात या बलात बिछड़ते देखते, पीड़ा होती और वे वियोग की सी अवस्था का अनुभव करते।

कवि वाल्मीकि ही नहीं प्रत्येक उत्तम कवि वही माना गया है जिसने वियोग वर्णन किया है। महाकवि कालीदास के 'अभिज्ञान शकुन्तलम' और 'मेघदूत' केवल इसी कारण उनकी श्रेष्ठतम रचनायें मानी जाती है। इनमें से भी हम सब 'मेघदूत' को कालीदास की सर्वश्रेष्ठ (Masterpiece) कृति मानते हैं। यक्ष के विरह वर्णन में तो मानों कालीदास ने अपना हृदय ही उढ़ेल कर रख दिया है। हृदय की समस्त अनुभूतियों का ऐसा सजीव चित्रण कदाचित हीं कहीं अन्यत्र मिलेगा। देखिये :—

"छन्नोपांतः परिणत फलोद्योतिभिः काननाम्रै–
स्त्वय्यारूढे शिखर मचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यपर मिथुनप्रेक्षणीयामवस्था
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपांडुः॥
(पूर्व मेघ ॥१८॥)

और फिर कालीदास के बाद हिन्दी के कवियों ने भी वियोग को आधार मान कर ही साहित्य का भंडार अपनी अमूल्य कृतियों से भरा है।

'सूरदास' जी की समस्त रचनाओं में उनका "भ्रमर-गीत-सार" ही प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। भ्रमर-गीत-सार का एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति, एक-एक पद गोपियों की विराहकुलता का मूर्त चित्रण है।

"कहा करौं मन हाथ नहीं।
तू मो सौं यह कहति भली री, अपनों चित मोहिं देत नहीं।
नैन रूप अटक नहिं आवत, स्रवन रहे सुनि बात तहीं।
इन्द्री धाई मिलीं सब उनकी, तन मय जीव रह्यौ संगहीं।
मेरे हाथ नहीं ये कोऊ, घट लीन्है इक रही महीं।
सूर स्याम संग तैं कहूँ टरत न आनि देहि जौ मोहिं तुहीं।"

रीति कालीन कवियों का तो आधार ही सदा विरह वर्णन रहा है। नायिका की विरह दशा का मार्मिक वर्णन कर उन्होंने उद्दीप श्रृंगार की सृष्टि की है वहाँ इसकी ओर उन्होंने ऐसी देन ही साहित्य को दी है जिनसे पाठकों का हृदय ही द्रवित नहीं हो उठता, बल्कि वे तो नत-मस्तक होकर कवि का गुण गान करने लगते हैं। बिहारी, घनानन्द, आलम आदि प्रतिभाशाली कवियों के सर्वोत्तम कवित्त वही है, जिनमें नायिका के वियोग और विरह का चित्रण किया गया है। ऐसी ऐसी मार्मिक उक्तियां इन लोगों के हृदय से निकली हैं कि पाठक और श्रोता दिल थाम कर जाते हैं। विरह, विषाद, वियोग, आह, आँसू आदि तत्वों के सम्मिलन से जिन कविताओं की सृष्टि हुई वे स्वयं में अद्वितीय रही है। प्रत्यक्षं किं प्रमाणाम्! देख लीजिये—

"आड़े दे आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै है नेह बस सखी सबै ढिग जात॥"

(बिहारी)

"सांसन में समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुताकरि ॥
'देव' जियै मिलिवेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेर हरै हंसि हेरि हियो जुलियो हरि जू हरि ॥"

(देव)

"जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठी चुन्यो करैं।
जा रसना सों कारी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यो करै।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥

(आलम)

"कारी कूर कोकिल कहां को वैर काढ़तिरी,
कूकि कूकि अवहि करे जो किन कोरि लै।
पैंड़ परे पापी ये कलापी निसी द्योस ज्यों ही,
चांतक रे वातक ह्वै तू हू कान फोरि लै।
आनंद के घन प्रान--जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जो लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घेरि लै ॥"

(घनानंद)

"ए ब्रजचंद गोविंद गोपाल ! सुन्यो क्यों न एते कलाम किए मैं।
त्यों पद्माकर आनंद के नद हो, नंदनंदन ! जानि लिए मैं ॥
माखन चोरि कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुर्यो जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अंधेरे हिए मैं ?"

(पद्माकर)

इन सबके अलावा यदि व्रज भाषा से ही प्रमाण अपेक्षित हैं तो बाबू जगन्नाथदास जी "रत्नाकर" का 'उद्धव-शतक" उठा कर देखिये ! विरहाकुल गोपियों की एक-एक उक्ति हृदय को तड़पा-तड़पा देती है। ऐसे ऐसे मार्मिक स्थल हैं कि कवि की कल्पना भी यथार्थता

का जामा पहन कर आंखों के सामने नाचने लगती है । उदाहरणतः उद्धव के ब्रज-ललनाओं के पास पहुँचने पर कृष्ण की संदेश-प्राप्ति की उनकी उत्सुकता का कितना सजीव चित्र है :

"भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गांवनि में पावन जबैं लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबैं लगीं।
उझकि-उझकि पद - कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहति छबैं लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं ॥"

किन्तु जब अध्यात्मवाद से पूर्ण कथन को ही उन्हें श्री कृष्ण का संदेश बताया जाता है तब उनकी दशा देखने योग्य है:—

"नैननि के आगै नित नाचत गुपाल रहैं
ख्याल रहैं सोई जो अनन्य-रसवारे हैं।
कहै रत्नाकर सो भावना भरीये रहै,
जाके चाव भाव रचैं उर में अखारे हैं॥
... ...
... ...।
... ...,
हम उनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं॥

अब यदि हम आधुनिक हिंदी के कविता साहित्य पर दृष्टिपात करें तो यही विचारधारा अज्ञात रूप से यहां भी अपना कार्य कर रही है। किसी भी कवि को उठा कर देख लीजिए, उसकी कोई सी भी रचना उठा कर देख लीजिए, यही विचारधारा, केवल मात्र यही एक विचारधारा आपको अविकल रूप से प्रवाहित होती मिलेगी। किसी को ले लीजिए, पंत, निराला, महादेवी, प्रसाद, बच्चन कोई भी क्यों न

हो सबमें केवल विरह, विरोग, आह और आंसू सभी के दर्शन एक साथ, एक स्थान पर या विभिन्न स्थानों पर आपको होंगे, और आप भी केवल उन्हीं स्थलों पर भावनामय हो जायेंगे जहां पर कवि ने वियोग के तार छोड़े, जहां उसने अपनी आह से अपनी आह के निःश्वास से बड़े-बड़े पर्वत हिला दिये, जहां उसके आंसुओं ने नई गंगा-यमुना बहा दीं, ऐसी ही अनेकानेक स्थलों पर आप पिघल गये, आप रो उठे और आप के कंठ से कवि की प्रशंसा में शब्द फूट निकले।

राष्ट्र कवि भी मैथिली शरण जी गुप्त ने, ऐसा कुछ आलोचक कहते हैं, अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में जोकुछ लिखा है वह एक ओर और 'साकेत' का 'नवम-सर्ग' दूसरी ओर ! कथन आंशिक किंतु सर्वथा सत्य है। ऊर्मिला की—विरहिणी ऊर्मिला की—अश्रुपूर्ण आँखें, उसके उच्छ्वास, उसका वियोग सभी ही तो पाठकों को खींच लेता है बरबस अपनी ओर।

प्रसाद के 'आँसू' साहित्य को अनुपम देन हैं। कौन भुलायेगा आँसुओं की इस परिभाषा को—

'जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई।'

और फिर—

'इस हृदय-कमल का घिरना,
अलि-अलकों की उलझन में।
आँसू-मरन्द का गिरना,
मिलना निश्वास-पवन में।'

और 'लहर' में कवि प्रसाद की भावनायें कितने ही स्थलों पर मुखर हो उठीं। यथा—

"तव लहरों सा उठकर अधीर
तू मधुर व्यथा सा शून्य चीर,
सूखे किसलय-सा भरा पीर,
गिर जा पतझड़ का पा समीर!"

जीवन-अभिवादन प्रसन्न-वदन से ही हो सकता है लेकिन वह-जिसके साथ बात ऐसी है कि—

"आँसू की आँखों से मिल,
भर ही जाते हैं लोचन।"

(गुंजन)

वह जीवन का अभिवादन क्या करेगा? कविवर पन्त की इस उक्ति में जीवन की व्यथा कितनी साकार है। और फिर उसे जीवन मिलेगा कैसे? किनारा कैसे मिलेगा?

"कँप-कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा!"

(गुंजन)

किनारा क्या उन्हें मिलता है जो रोते हैं? किंतु यह भी विवशता है कि

"सिसकते, अस्थिर मानस से,
बाल-बादल-सा उठकर आज,
सरल, अस्फुट उच्छ्वास।"

(पल्लव)

पंत के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' जीवन के उच्छ्वास और आँसू हैं! और पंत ही क्या बच्चन भी तो विरह में ही कवि बने। वियोग की प्रेरणा से ही तो उनकी क़लम चली और वह गुनगुना ही तो उठे—

"वेदना के गीत गाकर,
वेदना तुमने बंटा ली!"

और प्रिय की खोज में चलते चलते जब—

'धूलि से लद, स्वेद से सिंच,
हो गई है देह भारी।'

(सतरंगिनी)

फिर भी—

'कौन सा विश्वास मुझको,
खींचता जाता निरंतर ?—'

'पंथ क्या, पथ की थकन क्या,
स्वेद कण क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं ?–'

(सतरंगिनी)

लेकिन वेदना, वियोग और आँसुओं के मूर्त रूप का दर्शन होता है महादेवी की कविताओं में।

'फिर विकल हैं प्राण मेरे।'

में वियोग से चिर-विकल प्राणों की वेदना साकार हो उठी है। और हो भी क्यों न ?

'मैं चिर-पथिक वेदना का,
लिये न्यास कुछ अश्रुकण पास।'

(यामा)

केवल कुछ 'अश्रुकण' ही तो वियोगिनी की थाती नहीं हैं,

'सिंधु का उच्छ्वास घन है,
तड़ित तम का मन विकल है।
भीति क्या नभ है व्यथा का,
आँसुओं से सिक्त अंचल।'

(दीप शिखा)

ये आँसू भी केवल निःश्वास पूर्ण ही नहीं हैं, अपितु उनकी भी एक कामना है और वह कामना है वेदनामय और जिसमें तूफ़ान भी छिप से रहे हैं:—

'प्रिय जिसने दुख पाला हो !
जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चंदन सी,
तूफ़ानों की छाया हो
जिसको प्रिय-आलिंगन सी,
जिसको जीवन की हारें
हों जय के अभिनंदन सी,
वर दो यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो !'

(यामा)

इन कामना-मय आँसुओं का इतिहास भी है:—

'प्रिय इन नयनों का अश्रु नीर !
दुख से आविल सुख से पंकिल,
बुद् बुद् से स्वप्नों से फेनिल,
बहता है युग युग से अधीर !'

(नीरजा)

'जो तुम आ जाते एक बार' तो सारा वियोग ही समाप्त हो जाता और 'आँसू लेते वे पद पखार ।' किंतु तुम नहीं और 'विरह-निशा' बढ़ती जा रही है । किंतु—

'मैं क्यों पूछूं यह विरह निशा
कितनी बीती या शेष रही ?'

(यामा)

❀ ❀ ❀ ❀

व्यक्ति विशेष कवि ही क्या आधुनिक काल में प्रचलित सभी 'वादों' में भी इसी वियोग की छाया का नर्तन है। इन्हीं आँसुओं की व्यथा है और हैं यही आहें जो तड़पा देतीं हैं—विकल कर देती हैं।

पन्त और प्रसाद का 'छायावाद' पीड़ा से अनुरंजित होकर ही तो शब्दों में उतर आया। पन्त के 'छाया' से प्रश्न वियोग के उद्रेक के कारण ही तो सुनने वालों को विकल कर देते हैं:-

'कौन, कौन तुम परिहृत-वसना,
म्लान-मना, भू - पतिता - सी?
... ...
... ...
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि!.........निष्ठुर कोई?'

(पल्लव)

निराला का 'रहस्यवाद' भी इन्हीं वियोगात्मक उक्तियों से ही प्रेरित है। यथा:-

'कहाँ परित्राण?
बुला रहे, बन्धु, तुम्हें प्राण?
बीते अविरत शत-शत
अब्द, शब्द अप्रतिहत
उठता—ये जो पतनत्,
नहीं इन्हें स्थान?

(गीतिका)

और बच्चन का 'हालावाद' और महादेवी का 'रहस्यवाद' तो वेदना के साकार रूप हैं हीं।

"तोड़ दो ये क्षितिज मैं भी
देख लूं उस ओर क्या है?
बढ़ रहा जिस पन्थ से युग,

कल्प उसका छोर क्या है ?'

(यामा)

❀ ❀ ❀

'कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसकता में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?'
कौन प्यारे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में !
कौन तुम मेरे हृदय में ?'

(यामा)

और इसी प्रकार वियोग का प्रभाव हम प्रत्येक स्थल पर प्रत्येक साहित्य में, देखते हैं। अंग्रेजी साहित्य में कीट्स (John Keats) का जो स्थान है वह अपनी दर्द भरी कविताओं के कारण ही है।

अलक्षित और अदृश्य रूप से चले आते अनादि काल के इस सिद्धांत की शब्द योजना वास्तव में मधुर है। चिरकाल से गूंजते आते पन्त के ये शब्द अनन्त काल तक गूंजते रहेंगे:-

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान।
निकल कर नयनों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।"

और मानव इसी तरह आत्म-विभोर होते रहेंगे।

(श्रीकुमार 'नीरस')

संस्कृत साहित्य के इतिहास की रूपरेखा

जिस संस्कृत साहित्य पर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान समानरूपेण अगाध श्रद्धा रखते हैं तथा उसकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते, उस संस्कृत साहित्य की महिमा अपरम्पार है। वस्तुतः संस्कृत भाषा और साहित्य हम भारतीयों की अतीव अमूल्य एवम् अनुपम निधि है। यही एक भाषा है जिसके द्वारा हमें अलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक ज्ञान-विज्ञान शास्त्र-पुराणों आदि का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। श्री बलदेव उपाध्याय के शब्दों में कहा जा सकता है कि हमारा संस्कृत साहित्य "परा तथा अपरा विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है।" प्राचीन, व्यापकता, धर्म, संस्कृति, कला—इन सभी दृष्टिकोणों ने हमारी संस्कृत भाषा को 'परम महनीया, विद्वज्जन माननीया तथा सौभाग्य शोभनीया' बना दिया है। संस्कृति साहित्य के महत्व का अकंन मैं स्वच्छन्द रूप से अपने अन्य किसी निबन्ध में फिर करूंगा। प्रस्तुत निबन्ध का विषय तो अपार संस्कृत साहित्य के इतिहास की रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करना है। अस्तु, अब हम अपने विषय पर आते हैं।

संस्कृति साहित्य के इतिहास को हम निम्न तीन भागों में बांट सकते हैं :—

(१) वैदिक काल—इसका समय लगभग २५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना जाता है। वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद इसी काल के अंतर्गत माने जाते हैं।

(२) स्मृतिकाल —जिस काल में रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदाङ्गों की रचना हुई, वह स्मृतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। कुछ विद्वान इस काल को पृथक न मानकर आगे आने वाले लौकिक संस्कृत-काल के अंतर्गत ही उसकी गणना करते हैं।

(३)लौकिक संस्कृति का काल—जब पाणिनि के द्वारा भाषा

नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित कर दी गई, तब उसमें काव्य, नाटकादि की रचना होने लगी। लौकिक संस्कृत में केवल काव्यों की रचना ही नहीं हुई, उस भाषा में व्याकरण, कोष, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, गणित, सङ्गीत, दर्शनादि विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का निर्माण भी पर्याप्त मात्रा में हुआ।

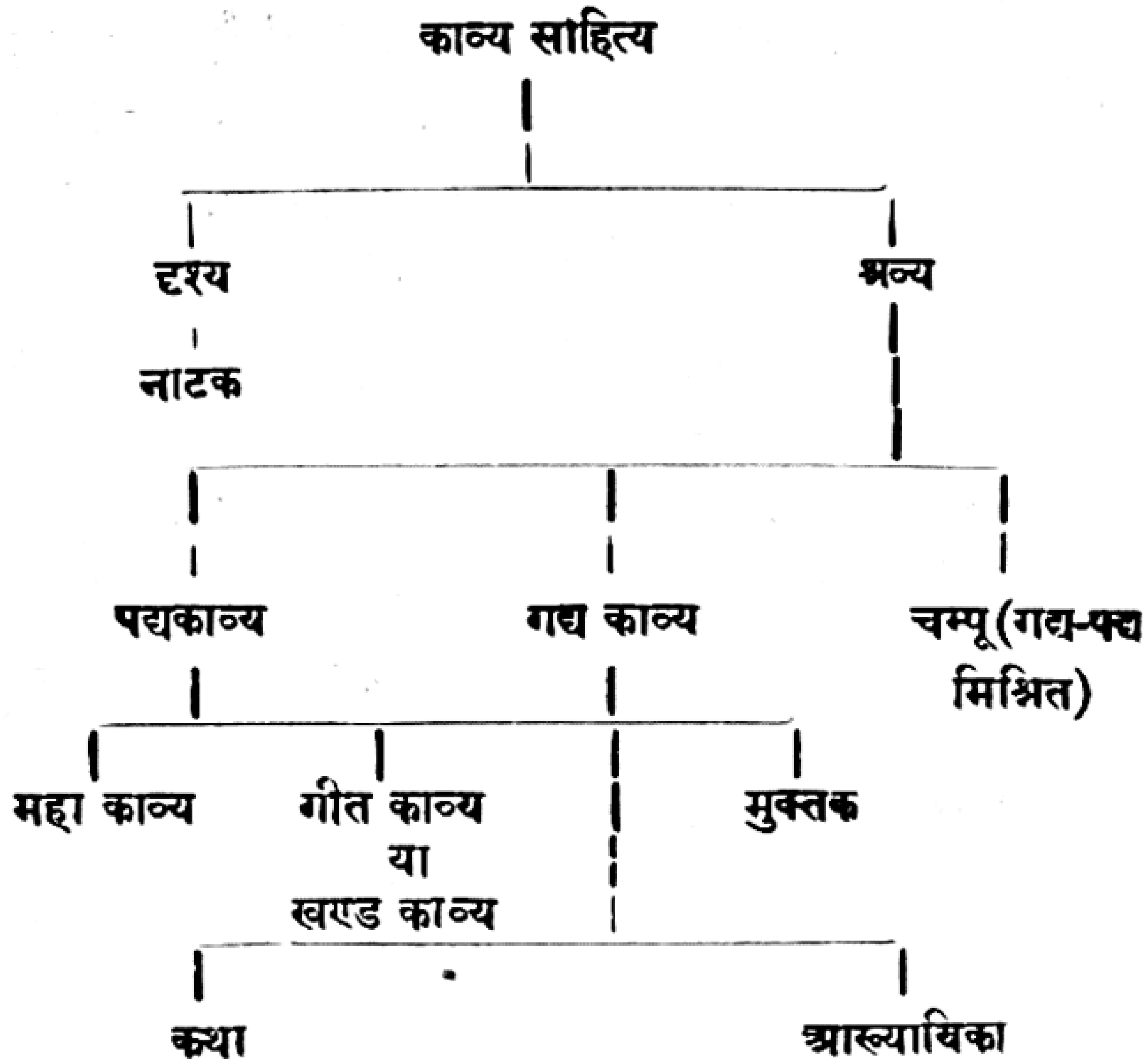
पाठकों को यह तो अनुमान हो ही गया होगा कि संस्कृत साहित्य के इतिहास का कलेवर कितना विशाल है। इस छोटे से निबन्ध में संस्कृत के सम्पूर्ण इतिहास पर प्रकाश डालना 'गागर में सागर' भरने के समान होगा। जिसके लिए हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि बिहारीलाल की सी सूक्ष्म बुद्धि एवं दूरदशिता का होना अतीव वांछनीय है। यदि हम एकमात्र लौकिक साहित्य को ही इस निबंध का विषय चुनें, तो भी लौकिक साहित्य के अविभाजित अंगों—व्याकरण, दर्शन, अलंकार ग्रन्थादि—का पूरा विवरण देना इस संक्षिप्त निबंध में सम्भव नहीं है। मैं इस निबंध में लौकिक संस्कृत काल के अन्तर्गत रचित काव्य-साहित्य की रूपरेखा ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकूंगा।

'काव्य-साहित्य' का प्रयोग मैंने यहां व्यापक अर्थ में किया है। काव्य का अर्थ वह नहीं, जो आज है। यह तो अतीव संकुचित एवम् एकांकी दृष्टिकोण है। इसके अन्तर्गत मैं दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों को सम्मिलित कर रहा हूँ। (काव्य-साहित्य का वंश-वृक्ष अगले पृष्ठ पर दिया गया है)

अतएव, इस निबन्ध में मैं केवल नाटक, महा काव्य, गीति काव्य, चम्पू काव्य, ऐतिहासिक काव्य, तथा गद्य साहित्य की अतीव संक्षिप्त चर्चा करूंगा।

संस्कृत काव्य-साहित्य का नाटक अंक अधिक विशाल एवं समुन्नत है। प्रसिद्ध नाटकों एवं नाटककारों की गणना इस प्रकार है:—

(१) अश्वघोष— डा० ल्यूडर्स ने १६१० ई० में मध्य एशिया



के तूरफान नामक स्थान में इनके तीन नाटक खोज निकाले थे। 'शारि-पुत्र प्रकरण' इनका एक अच्छा नाटक है।

(२) भास—इनके तेरह नाटक प्रसिद्ध हैं। 'स्वप्नवासवदत्तम्' इनका सर्वप्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ नाटक है।

(३) शूद्रक—इन्होंने 'मृच्छकटिक' नाटक लिखा। यह कहा जाता है कि संस्कृत में एकमात्र यही चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटक है। तत्कालीन समाज का इसमें बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है।

(४) कालीदास—सर्वोत्कृष्ट नाटककार कालीदास के नाम से कौन अपरिचित होगा ? इनकी 'शकुन्तला' संसार के गले का कण्ठहार बनी हुई है। जर्मनी का कवि गेटे भी इसे पढ़कर झूम उठा था। 'शकुन्तला' के सौन्दर्य आदि पर तो एक पृथक ग्रन्थ तक लिखा जा सकता है। इनके अन्य दो नाटक हैं—'मालविकाग्निमित्रम्' तथा 'विक्रमोर्वशीयम्'।

(५) दिङ्नाग—इनका नाटक 'कुन्दमाला' है। रामायण का प्रसंग लेकर नाटककार ने इसमें करुण रस की जो सुन्दर व्यंजना की है, उसके लिए वे आज भी प्रसिद्ध हैं। भवभूति के पश्चात् करुण-रसाचार्यों में इनकी ही गणना की जाती है।

(६) हर्षवर्द्धन—इनके तीन नाटक हैं—रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द।

(७) भवभूति—इनके भी तीन नाटक हैं—महावीरचरित, मालती—माधघ और 'उत्तररामचरित'। 'उत्तररामचरित' इनका अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ नाटक है। यह भवभूति की काव्य-प्रतिभा का चूड़ान्त निदर्शन है।

(८) विशाखदत्त—संस्कृत का सुप्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' आपकी ही रचना है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। रस-प्रधान न होकर यह एक मात्र घटना-प्रधान नाटक है।

(९) भट्टनारायण—इनका नाटक है 'वेणीसंहार' जो महाभारत की घटना का आधार लेकर लिखा गया है। यह वीररस-प्रधान नाटक है। इसकी भाषा ओजपूर्ण है।

(१०) मुरारी— 'बाल-वाल्मीकि' नाम से अपने को सम्बोधित करने वाले मुरारि का 'अनर्घराघव' संस्कृत का एक अच्छा नाटक है।

(११)शक्तिभाद्र—इन्होंने 'आश्चर्यचूड़ामणि' नाटकलिखा। इस में अद्भुत रस की सुन्दरव्यञ्जना की गई है। 'उत्तररामचरित' के पश्चात् यही नाटक सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

(१२)—राजशेखर इनके चार नाटक प्रसिद्ध हैं—कर्पूरमंजरी, विद्धशाल भञ्जिका, बालरामायण और बालभारत (प्रचण्ड पाण्डव। 'कर्पूरमञ्जरी, की रचना प्राकृत में की गई है।

(१३)क्षेमीश्वर—'नैवधानन्द' और 'चण्डकौशिक' इनके सुन्दर नाटक हैं।

(१४) दामोदर मिश्र-हनुमन्नाटक,

(१५)कृष्ण मिश्र–'प्रबोधचन्द्रोदय' इनका प्रसिद्ध नाटक है। यह शान्तरस प्रधान है। यह नाटक रूपकात्मक (Allegorical) है। वेदान्त के अद्वैतवाद का इसमें सुन्दर चित्रण किया गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह नाटक अधिक महत्वपूर्ण है। इस नाटक के पात्र-ज्ञान, बुद्धि, विवेक, श्रद्धा, भक्ति आदि है।

(१६)जयदेव–यह जयदेव पीयूषवर्षी गीतगोविन्दकार से सर्वथा भिन्न है। इनका नाटक है–'प्रसन्न राघव'

(१७)वत्स–इनके ६ रूपक प्रसिद्ध हैं। वे निम्न प्रकार में–किरातार्जुनीय व्यायोग, कर्पूरचरित्र (भाण), हास्यचूड़ामणि (प्रहसन), रुक्मिणी हरण (ईहामृग), त्रिपुरदाह (डिम) तथा समुद्र-मन्थन (समवकार)

नाटक के पश्चात् हम महाकाव्य पर आते हैं। प्रसिद्ध महाकाव्यों तथा महाकाव्यकारों की गणना करने से पूर्व इतना उल्लेख कर देना भी मैं परमावश्यक समझता हूं कि रामायण और महाभारत महाकाव्य के अन्तर्गत नहीं हैं। ये तो हमारे प्राचीन इतिहास-पुराण (Epics) हैं। वैसे ये हैं- लौकिक संस्कृत के आकर-ग्रन्थ ही। सुप्रसिद्ध महाकाव्य और कवि निम्न प्रकार हैं:-

(१)अश्वघोष–'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित'।

(२) कालीदास–'रघुवंश' और 'कुमार सम्भव'।

(३) भारवि–'किरातार्जुनीय'। अर्थ-गौरव की दृष्टि से यह अत्याधिक महत्वपूर्ण है।

(४)भट्टि–'रावण वध'। यह महाकाव्य साहित्य में 'भट्टीकाव्य' नाम से भी प्रसिद्ध है।

(५) कुमारदास—'जानकी-हरण'।

(६) माघ—'शिशुपाल वध'।

(७) हरिश्चन्द्र—'धर्मशर्माभ्युदय'। यह जैन महाकाव्य है।

(८) रत्नाकर—'हर-विजय।'

(९) कविराज—'राघवपाण्डवीय'। यह एक अद्भुत महाकाव्य है। इसके प्रत्येक श्लोक में श्लेश द्वारा रामायण तथा महाभारत की कथा का साथ साथ वर्णन किया गया है। कविराज के अनुकरण पर रचे गये काव्यों में वेंकटाध्वरि का 'यादव राघवीय' हरदत्त सूरि का 'राघवनैषधीय' चिदम्बर का 'राघवपाण्डवीय यादवीय' तथा विद्या-माधव का 'पार्वती-रुक्मिणीय' उल्लेखनीय हैं।

(१०) श्रीहर्ष—'नैषधीयचरित'। इसमें नल तथा दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा सुन्दर रीति से वर्णित की गई है।

महाकाव्य के पश्चात् हम गीति काव्य पर आते हैं। निम्न-लिखित गीतिकार एवं गीति-काव्य संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं:—

(१) कालिदास—'ऋतुसंहार' तथा 'मेघदूत'। 'ऋतुसंहार' में षड्-ऋतु-वर्णन बड़ा सुन्दर किया गया है। 'मेघदूत' तो गीतिकाव्यों में परम उज्जवल माना जाता है। बाह्य और अन्तः प्रकृति का जैसा सुन्दर चित्रण मेघदूत में हुआ है। वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। यह ग्रन्थ सर्वप्रिय है। इस पर अब तक मिलाकर ४० टीकाएं लिखी गई हैं। विभिन्न भाषाओं में इसका अनुवाद भी हो चुका हैं। संस्कृत में दूत–काव्यों का श्री-गणेश 'मेघदूत' से ही होता है।

(२) घटकर्पर—'घटकर्पर'। यह २२ पद्यों का एक लघुकाव्य है। यह काव्य यमक-प्रधान है।

(३) हाल—'गाथा-सप्तशती'। आर्या छंद में ७०० छन्दों का यह सुन्दर संग्रह है। हिन्दी के महाकवि बिहारी लाल की सतसई के बहुत से दोहे इसी सप्तशती के अनुवाद से ज्ञात होते हैं।

(४) भर्तृहरि—नीतिशतक, शृंगार शतक, वैराग्य शतक।

(५) अमरुक—अमरुक शतक। शृङ्गार की भङ्गिमाओं का इसमें सुन्दर चित्रण किया गया है।

(६) बिल्हण—'चौर पंचाशिका'।

(७) धोयी—'पवन दूत'।

(८) गोवर्धनाचाय–'आर्य सप्तशती'। यह भी आर्या छंद में है तथा शृङ्गार-रस प्रधान है।

(९)जयदेव–इनकी गीतगोविंद' तो अत्यन्त प्रसिद्ध गीति-रचना है।इसके पद्य अति ललित एवं गेय हैं। गीत-गोविद जैसी कोमल कतां पदावली अन्यत्र दुर्लभ है।

(१०) पण्डितराज जगन्नाथ–इनके लगभग नौ गीति-काव्यों का उल्लेख साहित्य में मिलता है। 'गंगा-लहरी' इनका प्रसिद्ध एवं ललित स्तुति-ग्रन्थ है।

चम्पू-काव्य

गद्य-पद्य-मिश्रित रचना साहित्य में चम्पू नाम से अभिहित की गई है- 'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यमिधीयते।' इसमें गद्य व पद्य का समान रूपेण व्यवहार किया जाता है। चम्पू-काव्यों की रचना १० वीं शताब्दी के पश्चात् ही दृष्टिगोचर होती है। प्रसिद्ध चम्पू-काव्य निम्न लिखित हैं:–

(१) त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' तथा 'मदालसा चम्पू'।

(२) सोमदेव कृत 'यशस्त्रिलक चम्पू'।

(३) हरिश्चन्द्र कृत 'जीवनधर चम्पू'।

(४) राजा भोज कृत 'रामायण चम्पू'।

(५) सोड्ढल–'उदयसुन्दरी कथा–चम्पू'।

(६) रानी तिरुमलाम्बा—'वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू'

(७) अनन्त—'भारत चम्पू'।

(८) नारायण—'स्वाहासुधाकर चम्पू'।

(९) वेंकटाध्वरि—'विश्वगुणादर्श चम्पू'।

(१०) शङ्कर—शङ्करचेतोविलास चम्पू'।

चम्पू काव्य के उपरान्त हम ऐतिहासिक काव्यों का भी कुछ उल्लेख करना परमावश्यक समझते हैं। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिएकि आज के इतिहास ग्रन्थ और संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों

में महान् अन्तर है। इनमें तिथियों और घटनाओं की ठोस सामग्री नहीं मिलती। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वान संस्कृत साहित्य में वास्तविक इतिहास ग्रन्थों का अभाव मानते हैं। निम्नलिखित ऐतिहासिक काव्य उल्लेखनीय हैं :—

(१) बाण—हर्षचरित। यह रचना गद्य में होते हुए भी कवित्वपूर्ण है।

(२) वाक्यतिराज—गौडव हो (गौडवध) इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है।

(३) पद्मगुप्त—नवसाहसांकचरित।

(४) बिल्हण—विक्रमाङ्क देवचरित।

(५) कल्हण—राजतरङ्गिणी।

अन्त में केवल गद्य-साहित्य शेष रहता है। संस्कृत साहित्य में पद्य की अपेक्षा गद्य का प्रयोग गौण ही रहा।

संस्कृत में गद्य का उपयोग प्रधानतया टीकाओं, व्याकरण-ग्रन्थों, ज्योतिष, दर्शनादि ग्रन्थों में ही अधिक हुआ है। कालान्तर में कथा, आख्यायिका के रूप में भी गद्य काव्य का माध्यम बन गया अतएव, संस्कृत साहित्य में गद्य-रचना कम ही दिखाई पड़ती है। संस्कृत के प्रसिद्ध गद्य-साहित्य का विवरण निम्न प्रकार है-—

(१) दण्डी—दशकुमार चरित। इस ग्रन्थ में सामाजिक चित्रण बहुत सुन्दर किया गया है।

(२) सुबन्ध—वासवदत्ता।

(३) बाणभट्ट—कादम्बरी। यह समस्त संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्य रचना है।

(४) अम्बिका दत्त व्यास—शिवराजविजय।

संस्कृत गद्य साहित्य में निबन्धाकार रचना भी होने लगी है, इस दृष्टि से सर्वश्री महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा, हृषीकेष शास्त्री, डा० मङ्गलदेव शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत साहित्य में आख्यान साहित्य भी बड़ा रुचिकर एवं मनोरंजक है। विश्व के साहित्य में भारत के आख्यान-साहित्य का महत्व बहुत अधिक है। आख्यान साहित्य का हम दो भागों में विभाजन कर सकते हैं। पहला भाग है-नीतिकथा (Didactic Fable) और दूसरा लोक-कथा (Popular Tale) नीतिकथा के अन्तर्गत 'पन्चातन्त्र' और 'हितोपदेश' ग्रन्थ आते हैं जिनमें सुन्दर कथाओं द्वारा व्यवहारिक शिक्षा की सामग्री प्रस्तुत की गई है। ये दोनों ग्रन्थ संसार में आदर की दृष्टि से देखे गये हैं तथा संसार की विभिन्न भाषाओं में इनका अनुवाद भी हो चुका है।

लोक-कथा साहित्य में गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का विशेष उल्लेख किया जाता है, जो दुर्भाग्यवश अब लुप्त हो चुकी है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मञ्जरी' तथा सोमदेव की 'कथासरित्सागर' का प्रेरणास्रोत गुणाढय की बृहत्कथा ही हैं। इनके अतिरिक्त 'बेताल पञ्चविंशतिका' 'द्वात्रिंशत्पुत्रलिका' 'शुक सप्तति' आदि कथा-संग्रह भी संस्कृत में प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लौकिक संस्कृत के अन्तर्गत काव्य-साहित्य-ग्रन्थों का निर्माण भी पर्याप्त विशाल मात्रा में हुआ है। इस छोटेसे निबन्ध में मैंने इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करके प्रसिद्ध काव्यों एवं काव्यकारों के नाम-मात्र गिना दिए हैं। आशा है, इससे पाठकों को इतिहास की गतिविधि का यथेष्ट ज्ञान हो सकेगा तथा यह निबन्ध उन्हें संस्कृत साहित्य के इतिहास का शास्त्रीय अध्ययन करने में पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकेगा। यही मेरा मन्तव्य भी है।

(श्री श्रवणकुमार, एम० ए० एल० टी०)

साहित्य और आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति

जीवन की रमणीय व्याख्या करने वाली रचनाओं का नाम साहित्य है। जिन पुस्तकों में सहृदय जनों ने अपनी अनुभूतियां एकत्रित की हैं, अपनी हृदय-वीणा का राग भरा है, उनका समूह साहित्य कहलाता है। साहित्य में मानव का सुख-दुख हर्ष-विषाद, आशा-निराशा प्यार-घृणा सब स्पष्टरूप से स्पन्दित रहते हैं। साहित्य देशकाल की सीमाओं को तोड़कर मनुष्य के मनोवेगों को तरंगित करता है, क्योंकि उसका सम्बंध जीवन की चिरंतन समस्याओं से रहता है, परिवर्तन होने वाली क्षणिक समस्याओं से नहीं। विश्व के राष्ट्रों में आकार-प्रकार, वेशभूषा, खान-पान की बाहरी भिन्नता चाहे जितनी हो, परन्तु उसकी आवधारा जीवन-मरण की समस्यायें सदा एक सी रहती हैं। सौंदर्य पर रीझना, अपराध पर खीजना, भय से भागना प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव है। सौतिया डाह से केवल कैकयी का हृदय नहीं जलता, विश्व की प्रत्येक स्त्री दुखी होती है, पत्नि के वियोग पर केवल राम के नेत्र सजल नहीं होते. भूतल का सम्पूर्ण पुरुष समाज व्यथित हो उठता है। विश्व के साहित्य में भाषा रूपी शरीर का अंतर हो सकता है, किन्तु भावों और आदर्शों में पूर्ण समता रहती है। समाज के उन्नयन विकास के लिए साहित्य आवश्यक है। स्वस्थ और आनन्दपूर्ण जीवन बिताने के लिए साहित्य सेवन अनिवार्य है साहित्य राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

जिस साहित्य का इतना महत्व हो, उसकी गतिविधि से परिचित रहना और उसके संवर्द्धन में योग देना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। आगे के कतिपय पृष्ठों में यह देखने का यत्न किया जायगा कि हमारे आधुनिक साहित्य की प्रगति किस दशा में, कितनी है। हिन्दी साहित्य का नवीन युग प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से आरंभ होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व की एक महान क्रांति का सामना करना पड़ा, संसार के रंगमंच पर परिवर्तन चक्र तीव्र गति से घूमा।

भारतवष पर भी इस परिवर्तन का प्रभाव पड़ा । युद्ध में जीत कर अंग्रेजों ने दिए हुए बचनों को पूरा करने के स्थान पर भारतीयों से गोली और बरछों से बातें कीं। राष्ट्र क्षुब्ध होउठा। इसी समय अफ्रीका के विजयी सेनानी महात्मा गांधी ने देश के रंगमंच पर पर प्रवेश किया। जनता ने एक मत होकर उसे नेता मान लिया। उस दिन से आज तक क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या साहित्यक सभी चेत्रों पर उस महामानव की छाया पड़ती रही है। गांधीवाद उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया ने हमारे साहित्य की दोनों धाराओं—गद्य धारा और काव्यधारा पर गहरा प्रभाव डाला है।

गद्य धारा

नवयुग की विशेषताओं और आवश्कताओं के परिणाम स्वरूप गद्य रचना की विवध शैलियों का जन्म हुआ। इस काल में असहयोग आंदोलन, अछूतोद्धार आंदोलन स्वदेशी आंदोलन प्रभृति अनेक आंदोलन हुए। बहुत से भाषण दिए गये और वाद-विवाद हुए। वक्ता को अपना आशय स्पष्ट करने के लिए एक ही बात को अनेक प्रकार से कहना पड़ता है, विवाद में कथन को प्रभावशाली और ओजस्वी बनाना पड़ता है। इस प्रकार एक नई उग्रशैली का जन्म हुआ, जिसकी छाप दो लेखक पर विशेष रूप से पड़ी दिखाई देती है—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और शिवपूजन सहाय। एक दूसरी भावावेश की शैली का अविर्भाव हुआ जिसमें कवित्व का हल्का सा पुट विद्यमान रहता है और वाक्य की साधारण बनावट में उलटफेर हो जाता है। इस शैली के दर्शन विशेष रूप से रायकृष्णदास और हरिकृष्ण प्रेमी की रचनाओं में होते हैं। हिंदू-मुस्लिम एकता में सहायक समझकर कुछ लेखकों ने हिंदी-उर्दू के सम्मिश्रण का भी प्रयोग किया।

उपन्यास

प्रथम महायुद्ध के बाद उपन्यास साहित्यका बहुत विस्तार हुआ। उपन्यास कला में भी परिवर्तन हुआ। युद्ध से पूर्व तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यासों का प्रचार था। घटना वैचित्र्य पूर्ण उपन्यासों

में जनता की रुचि थी। अब लोगों की रुचि परिष्कृत हो चली। घटना प्रधान नाटकों का युग समाप्त हो गया। इंग्लैंड, फ्राँस, रुस इत्यादि देशों के सम्पर्क में आकर लेखक नये ढंग के चरित्र प्रधान उपन्यास लिखने लगे। पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण उपन्यास-कला का प्रधान अंग बन गया। लेखकों का ध्यान पात्र के अन्तर्द्वन्द्व, उसके अन्तर में होने वाले भावों के घात-प्रतिघात को प्रकट करने की ओर ही गया है।

नवयुग के उपन्यासकारों में सर्वोच्च स्थान प्रेमचन्द का है। वह हिंदी के उपन्यास-सम्राट कहलाते हैं। उनकी लोकप्रियता का सब से बड़ा कारण उनका युग के साथ चलना है। महायुद्ध के ठीक बाद 'प्रेमाश्रम' और फिर 'रंगभूमि' की रचना हुई। प्रेमाश्रम में जमीदारी की समस्या पर प्रकाश डाला गया है; रंगभूमि का कथानक सन १९२१-२२ के सत्याग्रह आन्दोलन से पूर्णतया प्रभावित है। दूसरी रचनाएं भी तत्कालीन समस्याओं से संबंधित हैं। इस काल में लिखे गये दो उपन्यास विश्वम्भर नाथ शर्मा का 'माँ' और जयशंकर प्रसाद का 'तितली' भी अच्छे हैं। गुरुदत्त का 'उन्मुक्त प्रेम' भी युगधर्म से प्रतिबिम्बित है। उसमें स्त्री-स्वातन्त्र और स्वच्छन्द प्रेम के चित्र अंकित हैं। समाज सुधार की दृष्टि से समाज के कुत्सित चित्र भी उपन्यासों में उतारे जाने लगे। बेचन शर्मा 'उग्र' के बुधुआ की बेटी, दिल्ली का दलाल और शराब इसी प्रकार के उपन्यास हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी सुधार हुआ। अब तक के ऐतिहासिक उपन्यासकारों देशकाल का पूरा ध्यान नहीं रखते थे। परन्तु जबतक वर्णित समय की परिस्थितियों और समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन न किया जाय तब तक ये उपन्यास सफल नहीं हो सकते। नवयुग के लेखकों का ध्यान इस ओर वृन्दावनलाल वर्मा ने बुंदेल खंड की मध्ययुगीन सभ्यता से संबंधीत दो ऐतिहासिक उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' हिंदी पाठकों को भेंट किये। हिंदी में उपन्यासों की अभी बहुत कमी है।

कहानी

साहित्य के इस अंग का विकास अन्य सब अंगों से अधिक

हुआ। इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण जीवन संघर्ष है जिस के कारण मनुष्य के पास कहानी जैसी छोटी रचना को ही पढ़ने के लिए समय रह गया है। युद्ध के बाद देश में जो परिवर्तन हुए और नये नये भाव- और विचार समाज में फैले, उनमें लेखकों को कहानियों के लिए सामग्री भी यथेष्ट मिली। कहना न होगा कि जिस प्रकार कहानी रचना के आरम्भ का श्रेय विदेशी साहित्य को है, उसी प्रकार उसके विकास का भी। आजकल अन्तर्द्वन्द्व प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानियां लिखने का प्रचलन बढ़ रहा है।

कहानी लेखकों में प्रेमचंद सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। पर आदर्शवाद और प्रगतिवाद उनका आंचल यहां भी पकड़े रहा। उनकी कहानियाँ किसी विशेष संदेश को लेकर चलती थीं और वे ग्राम और समाज की समस्याओं पर प्रकाश डालने वाली होती थीं। जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ कलापूर्ण होते हुए भी रहस्यात्मक होती थीं। उनकी संस्कृतमयी अलंकारिक भाषा भी कथा साहित्य के उपयुक्त न थी। प्रेमचंद के बाद सुदर्शन का स्थान है। उन्होंने प्रेमचंद के मार्ग का अनुसरण किया। प्रचारक की भावना उनमें भी रही, पर उनकी वर्णन शैली बड़ी मनोरम थी। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत कवि पहले हैं, कहानीकार बाद में। इनकी कहानियों में भी काव्य-छठा विद्यमान रहती है। इन्होंने एक नई शैली को जन्म दिया है, जिसमें मानसिक पीड़ा का प्राधान्य रहता है। सच्चिदानन्द वात्स्या- 'अज्ञेय' और यशपाल की कहानियों का धरातल साधारण कहानियों के धरातल से भिन्न रहता है। इनका धरातल कष्ट, त्याग और बलिदान की ऊँची पर कठोर पथरीली चोटियों पर है। एक अन्तरिक आर्तनाद इन कहानियों पर छाया रहता है। श्री विष्णु प्रभाकर और कमला देवी चौधरी की कहानिएं मनोविज्ञान से पूर्ण होती हैं।

नाटक

पाठकों के पास समय की कमी सिनेमा के प्रचार और रंगमच के अभाव के कारण नाटक-रचना अधिक न हो सकी। पाश्चात्य नाटक-शैली ने हिन्दी नाटकों पर गहरा प्रभाव डाला। लम्बे कथोपकथन

और स्वगत-भाषण समाप्त हो गये। अस्वाभाविक होने से पद्य का बहिष्कार होने लगा। रंगमंच-संकेत पूर्ण स्पष्ट और ब्योरेवार लिखे जाने लगे। उनमें दृश्य विधान, पात्र की आकृति, वेश-भूषा की पूर्ण रचना रहने लगी। विदूषक का हंसाने का काम पात्रों में से किन्हीं को दिया जाने लगा। प्राचीन नाट्य शास्त्र के बन्धन तोड़ डाले गये; चुम्बन, आलिंगन, युद्ध, मृत्यु, बध इत्यादि के वर्जित दृश्य रंगमंच पर दिखाये जाने लगे।

इन नवीनताओं का प्रयोग करने वाले सबसे प्रथम नाटककार सेठ गोबिन्द दास और लक्ष्मी नारायण मिश्र हैं। हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ नाटककार जयशंकर प्रसाद ने भी नवीन शैली को अपनाया। 'स्कन्दगुप्त आदि नाटकों में दृश्य शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है। स्थान और पट परिवर्तन की जगह कोई नाम नहीं दिया गया है। विदूषक का काम पात्रों को सर्व प्रथम उन्होंने ही सौंपा। युद्ध और मृत्यु आदि के दृश्य भी उन्होंने दिखाये। प्रसाद ने नाटकों के लिए हिन्दू-काल चुना था; लक्ष्मी नारायण मिश्र ने मुस्लिम-काल चुना। उनके नाटक भी नये ढंग के हैं। 'मुक्ति का रहस्य' नाटकमें मिश्रजी ने स्त्रियों की समस्या पर प्रकाश डाला है। इस नाटक में न कवित्वपूर्ण भाषण है, न गीतों की भरमार। उदयशंकर भट्ट को पौराणिक काल के नाटकों में विशेष सफलता मिली है। स्त्री-स्वातन्त्र्य आदि आन्दोलनों की छाप उनके नाटकों पर भी है। सामयिक और राष्ट्रीय नाटक-रचना की परम्परा भी सन् १६२१ के राष्ट्रीय आन्दोलन से आरम्भ हुई, परन्तु इन नाटकों में कला का विकास न हो पाया। इस प्रकार के नाटकों में प्रेमचन्द का 'संग्राम' और वृन्दावन लाल वर्मा का 'धीरे-धीरे मुख्य हैं। सेठ गोविन्ददास का 'विकास' नवयुग की राजनैतिक समस्या से सम्बन्धित है। एकांकी नाटक भी नवयुग की देन है, जिनकी रचना में डा० रामकुमार ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है।

निबन्ध

इस युग में निबन्ध की रचना की प्रचुरता रही। पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध प्रकाशित हुए। निबन्ध-संग्रह भी छपे। पहले निबन्धों में

मौलिकता की दिखाई देती थी । वह कमी अब पूर्ण हो चली । आज के निबन्ध अधिकाँश में स्वतन्त्र प्रयत्नों के फल हैं और लेखकों के कल्पना, विचार, अध्ययन और खोज से संबन्धित रहते हैं । एक नई परम्परा गद्यगीत लिखने की चली है । इन निबन्धों में भावुकता रहती है और इनकी रचना अलंकारिक शैली में होती है । इन गद्य-गीतों में अधिकतर कोई राजनैतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक समस्या रहती है या प्रकृति वर्णन होता है ।

इस काल में प्रकाशित अनेक निबन्धों संग्रहों में डा० भगवान दास का 'समन्वय', महादेवी वर्मा की 'शृंखला की बिखरी कड़िया', रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि' और धीरेन्द्र वर्मा की 'विचार धारा' उल्लेखनीय है ।

काव्य धारा

नवयुग ने कविता पर भी गहरा प्रभाव डाला । कविता के कला पक्ष और भाव पक्ष दोनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए । गद्य क्षेत्र के बाद धीरे-धीरे कविता-क्षेत्र में भी खड़ी बोली का प्रभुत्व हो गया । ब्रज और अवधी भाषाओं का युग समाप्त हो चला । इस युग में ब्रज और अवधी में भी कुछ सुन्दर रचनाएं हुई हैं, परन्तु वे उंगलियों पर गिनी जा सकती हैं और पुराने ढंग की हैं । मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली का परिष्कार किया । उन्होंने उसे परमार्जित किया और उसमें ओज के साथ माधुर्य भी भरा । हिन्दी के प्रचलित छन्दों में उन्होंने खड़ी बोली की मार्मिक रचना की । सुमित्रानंद पंत के हाथों में जाकर खड़ी बोली और भी सरस, मधुर और कोमल बनी । वह कोमलकांत पदावली के लिए प्रसिद्ध हैं । छंदों में भी बड़ा परिवर्तन हुआ । तुक के बन्धन का परित्याग करने और नवीन छन्दों का प्रयोग करने की सम्मति तो द्विवेदी जी कर चुके थे, पर निराला जी और आगे बढ़ गये । उन्होंने छन्द हीन रचना की नींव डाली । इस प्रकार की रचना सर्वप्रथम अमरीकन कवि वाल्ट ह्विटमैन ने 'लीव्ज ऑफ ग्रास' में की थी । उसका अनुकरण बंगला-कवियों ने किया, जिनसे निराला जी ने इसे लिया है ।

भावों की अभिव्यंजना शैली में भी रूपान्तर हुआ। यह युग राजनैतिक विप्लव और क्रांति का था। दीर्घकाल से पीड़ित जनता और कवियों के स्वर में तीव्रता, उग्रता और कठोरता का समावेश हुआ। अंग्रेजी और बंगला के देखा देखी हिन्दी के कवि भी स्फुट कविता और मुक्त गीत लिखने लगे। आज कल गीत लिखने की प्रवृति बढ़ रही है। काव्य और संगीत का यह मेल हिन्दी को घर-घर पहुँचाने का अनुपम साधन है। महादेवी, डा० रामकुमार, हरिवंशराय बच्चन और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने बहुत सुन्दर गीतों की रचना की है कविता में फ्रांसीसी साहित्य की व्यंगात्मक वक्रता और अंगरेजी साहित्य की प्रतीतात्माक लाक्षणिकता का भी अनुकरण किया जा रहा है। वर्तमान कवि–विशेषकर छायावादी– मात्रा, अक्षरों और लय के स्थान पर भाव के अनुकूल शब्द-चयन पर अधिक ध्यान देते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

अचल पलकों में सुछवि उतार
पान करता हूँ रूप अपार,
पिघल पड़ते हैं प्राण,
उबल चलती है दृग जल धार।

बहुत से लोग इन छोटी-बड़ी पंक्तियों को देखकर चंचल हो उठते हैं। परन्तु इनका प्रयोग वृथा नहीं किया गया है। इस विषमता के पीछे एक विशेष प्रयोजन है कवि का। सौंदर्य के दर्शन से मानव प्राण तत्काल पिघल पड़ते हैं, इस बात को दिखाने के लिए तीसरी पंक्ति सबसे छोटी रक्खी गई है। चौथी पंक्ति सबसे लम्बी है, क्योंकि क्षण में पिघले हुए प्राण दृग जल के रूप में बहुत देरतक रहते हैं।

इस युग की कविता के भावापक्ष में जो रूपान्तर हुए, उनका वर्णन करना समय-समय पर समाज-सर में उठने वाली लहरों की कहानी कहना है, युग का इतना प्रभाव कविता पर पड़ा है।

देश भक्ति

सत्याग्रह संग्राम के अमर सेनानी महात्मा गांधी की आवाज

ने भारत को जगा दिया। सारा देश एक नई चेतना, नई स्फूर्ति, नई उमंग लेकर उठ खड़ा हुआ। जो अब भी झपकियां ले रहे थे, उन्हें हिन्दी कविता ने जगाया—

दूर हुआ अवसाद, गात गत जड़ता भागी,
बढ़ा कार्य का स्रोत, अवनि की जनता जागी।
निज मधुर उक्ति वर विभा से है उर तिमिर भगा रही,
जागो-जागो भारत सुजन है जग जननि जगा रही॥
(उपाध्याय)

भारतवासियों की दृष्टि लौह शृंखलाओं में बन्धी मां की ओर गई। हृदय में एक तूफान उठा और देश के बच्चे-बच्चे ने कातर होकर कहा—

जागे मेरे उर में तेरी—
मूर्ति अश्रु जल धौत विमल,
दृगजल से पा बल, बलि कर दूं,
जननि, जन्म-श्रम सिंचित फल।
क्लेद युक्त अपना तन दूंगा,
मुक्त करूंगा तुझे अटल॥
(निराला)

मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी ने देश-भक्ति संबन्धी बड़ी मार्मिक कविताएं लिखी हैं।

वेदना वाद

स्वाधीनता संग्राम छिड़ा। कितने ही युवक और युवतियां फांसी के तख्ते पर झूल गये, कितनों को कालापानी हुआ, कितने बेंते और कोड़े खाकर बन्दीगृह में सड़ते रहे। घर-बार, धन-सम्पत्ति, सगे-संबंधी सब को देश की बलि वेदी पर चढ़ाकर भी सफलता न मिली। उधर बेकारी के भूत ने जीवन को भार स्वरूप बना दिया था। कविता में करुणा की धारा बह चली—वेदना वाद का जन्म

छायावाद

दूसरी ओर एक पृथक धारा छायावाद की चल रही थी। यह पश्चिम की देन थी। सन् १६११ में सबसे पहले बंगला के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'गीतांजलि' में इस ढंग की रचनाएँ कीं। हिंदी में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने पहले पहल इसे अपनाया। प्राकृतिक वस्तुओं में एक मानवता अनुभव करना और इसी मानवता को कविता में व्यक्त करना 'छायावाद'' है। छायावादी कवि प्रकृति के बाहरी दृश्यों में मनुष्य के अन्तर्जगत् का प्रतिविम्व दिखाता है। वह जड़ पदार्थों का वर्णन करते समय मानव हृदय की अनुभूतियों और भावनाओं का वर्णन करता है। छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि सुमित्रानन्दन पन्त छायावाद को चेतन पदार्थ की तरह सम्बोधित करते हैं और उसके साथ गहरी आत्मीयता प्रकट करते हैं—

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल, हम
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्ध्यान ॥

(पन्त)

छायावादी कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हृदयवाद

छायावाद के विस्तृत दृष्टिकोण ने हिन्दी में हृदयवाद को जन्म दिया। इसका अभिप्राय स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन से है। हिन्दी साहित्य में प्रकृति वर्णन वहुत कम हुआ है। इसका सम्पर्क संस्कृत और उर्दू से रहा। संस्कृत के पिछले खेवे के कवियों में से प्रकृति प्रेम उठ चुका था। उर्दू में बाह्य प्रकृति के निरीक्षण की चाल न थी। अब अङ्गरेजी के प्रभाव से हमारे प्राकतिक चित्र सटीक हो चले हैं। प्रकति का

तल्लीनता के साथ वर्णन करने वाले सबसे पहले कवि आचार्य रामचंद्र शुक्ल थे। उनके चित्रबिम्ब ग्रहण करने वाले हैं। बसन्त की शोभा का वर्णन देखिये—

भूरी हरी घास आस पास, फूली सरसों है,
पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥

(शुक्ल)

छायावादी कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त के वर्णन बड़े हृदयग्राही होते हैं। बसन्त आने पर अपनी घाटी को फूल, पत्तियों से ओत प्रोत देखकर कवि भोले बच्चे की तरह चिल्ला उठता है—

लो, चित्र शलभ सी पंख खोल,
उड़ने को है चित्रित घाटी।
यह है अल्मोड़े का बसन्त,
खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी॥

(पन्त)

प्रकृति का चित्रण करने वाले कवियों में उक्त दो काव्यों के बाद रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक, गुरुभक्त सिंह 'भक्त' 'नैपाली, दिनकर मुख्य हैं।

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद रूस की देन है। वहाँ शोषित वर्ग के उठ खड़े होने पर साहित्य की नींव राज प्रसादों से हटाकर दीन-दलितों की कुटिया में रक्खी गई। जो लेखनी राजा-रईसों के प्रशस्ति-लेखन से कलंकित हो चुकी थी, उसे शोषित, पीड़ित और दलितों की अश्रु-धारा से धोया जाने लगा। काव्य के विषय अब दूसरों की कब्र पर अपना महल बनाने वाले अभिजात वर्ग के लोग न रहे, काव्य के विषय वे लोग बने जिनकी ठठरियों पर यह समाज का भव्य भवन खड़ा है। प्रायः सभी छायावादी कवि अब इधर झुके हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' छायावाद और प्रगतिवाद के

बीच की कड़ी हैं। उनकी 'भिक्षुक' कविता बड़ी करुणापूर्ण है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

भगवती चरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' कविता बड़ी मर्मस्पर्शी है—

चरमर चरमर चूँ चरर मरर,
जा रही चली भैंसा गाड़ी।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच मील की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ों से,
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ,
नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना,
बस यह लोगों का एक काम।

उपसंहार

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति सर्वतोमुखी है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिस पर हमारे साहित्य ने प्रकाश न डाला हो। हाँ, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अधिकांश साहित्य सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध है। इन समस्याओं के न रहने पर, कितना साहित्य टिक सकेगा—कहा नहीं जा सकता। सम्भव है, बहुत कम टिक सके। यह भी सत्य है कि हिन्दी जगत में आज सूर, तुलसी के स्थान रिक्त पड़े हैं, किन्तु निराशा की कोई बात नहीं है। जिन परिस्थितियों ने सूर और तुलसी का निर्माण किया था वही आज भी सामने हैं। ये परिस्थितियें महान् साहित्यिक महारथियों को जन्म देंगी इसमें सन्देह नहीं। कांटो भरी डालों पर वे सलोने फूल फिर खिलेंगे।

(श्री पं० हरिदत्त शर्मा एम० ए०)

———

कविवर घनानन्द और उनका प्रेम-काव्य

हिन्दी साहित्य के मननशील इतिहासकारों में घनानन्द के कालनिर्धारण के बारे में खासा विवाद चल चुका है। एक पक्ष का मत है कि घनानन्द रीति-काल में उत्पन्न हुए थे, इसलिए उन्हें रीति-काल का ही कवि मानना चाहिए। दूसरा पक्ष कवि की रचनाओं के भगवद्भक्ति में सराबोर होने के कारण उनकी गणना भक्तिकाल के कवियों में करता है।

इस प्रश्न पर निष्पक्ष विचार करने के लिए हम रीति-काल के कवियों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं। पहली श्रेणी के कवि वे हैं, जिन्होंने रीति-विषयक ग्रंथ लिखे। केशव इस वर्ग के उल्लेखनीय कवि हैं। दूसरी श्रेणी के कवियों ने रीतिग्रन्थों का सहारा लेकर काव्य-रचना की। इनमें बिहारी, पद्माकर आदि प्रमुख हैं। तीसरी श्रेणी में उन कवियों को रखा जा सकता है जिन्होंने न तो रीति-ग्रन्थ ही लिखे और न उसके आधार पर काव्य-रचना ही की। इस वर्ग के कवि रीतिकाल के फुटकर कवि कहे जा सकते हैं। कविवर घनानन्द इसी वर्ग के कवि हैं।

किसी भी भाषा का साहित्य युग की आंतरिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब होता है। बाह्य परिस्थितियां साहित्य पर नगण्य प्रभाव रखती हैं। यही कारण है कि आज जब कि विलासिता और शृंगार बराबर बढ़ता जा रहा है, शृंगार-प्रधान साहित्य की भरमार होने के स्थान पर काव्य-निर्माता प्रगतिवादी काव्य-निर्माण में व्यस्त हैं। पंथ और निराला के समान उच्च कोटि के छायावादी कवि भी प्रगति-वाद की भूमि पर आ उतरे हैं। रीतिकाल में समाज का मानसिक झुकाव विलासिता और शृंगार की ओर हो गया था। इस रुचि को विशेष प्रोत्साहन राजा महाराजाओं की ओर से मिला। घनानन्द भी आरम्भ में इसी धारा से प्रभावित हुए।

जीवन—परिचय

घनानन्द के जीवन के बारे में प्रमाणिक सामग्री बहुत कम

उपलब्ध है। उनका जन्म संवत् १७४६ में और मृत्यु संवत् १६६६ में बताया जाता है। कहते हैं घनानन्द दिल्ली के बादशाह मोहम्मदशाह रंगीला के मीरमुंशी थे। दरबार की सुजान नामक वेश्या से उनका प्रेम हो गया था। वेश्या के प्रति उत्कंट प्रेम ही उनकी कविता का प्रेरणा स्रोत था।

एक बार बादशाह ने घनानन्द को गाने की आज्ञा दी। कवि की इच्छा उस समय गाने की न थी। इसलिए उनके गीत में रस निर्माण न हो सका। दरबारियों ने राय दी कि सुजान को दरबार में बुलाकर कवि को पुनः गाने के लिए कहा जाय। ऐसा ही किया गया। सुजान की उपस्थिति में कवि ने जो गीत गाया उसमें सारा दरबार झूम उठा। गाते समय कवि का मुंह सुजान की ओर और पीठ बादशाह की ओर थी। घनानन्द का यह व्यवहार बादशाह को अरुचिकर प्रतीत हुआ और उसने कवि को राज्य से बाहर निकाल दिया। जाते समय कवि सुजान के पास गया और उसे साथ चलने को कहा। परन्तु सुजान ने कवि के आग्रह को ठुकरा दिया। बस, उसी क्षण घनानन्द का लौकिक प्रेम अलौकिकता की ओर अभिमुख हो गया। कवि सीधा वृन्दावन आया और निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। कुछ विद्वानों के मतानुसार उन्होंने विशिष्टाद्वैत-मत में दीक्षा ग्रहण की।

घनानन्द की मृत्यु के बारे में निम्न किवदन्ती प्रसिद्ध है। कहते है कि नादिरशाह के सैनिक जब दिल्ली में लूट मचा रहे थे उस समय उन्हें पता चला की बादशाह का मीरमुंशी वृन्दावन में रहता है और उसे बादशाह के गुप्त धन का पता है। सैनिकों ने घनानन्द के पास जा कर अपनी भाषा में 'ज़र, ज़र, ज़र' कहा, जिसका अर्थ होता है, 'धन, धन, धन।' प्रश्न के उत्तर में घनानन्द ने तीन बार 'रज, रज, रज' कहा, जिसका अभिप्राय था, 'मेरे पास भगवान की चरणधूलि के अतिरिक्त और कुछ नहीं।' सैनिकों ने रुष्ट होकर उनके हाथ काट डाले जिससे कवि की तत्काल मृत्यु हो गई।

रचनाएं

घनानन्द की कृतियों का निर्णय करते समय हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या 'घनानन्द' और 'आनंदघन' एक ही कवि का नाम है अथवा इस नाम के दो कवि हुए हैं ? इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'घनानन्द' और 'आनन्दघन' एक ही का नाम है। कहीं २ छन्दानुरोध के कारण 'घनानन्द को 'आनन्दघन' अथवा 'आनन्द के घन' लिखा गया है। इसके विपरीत कुछ अन्य आलोचकों ने घनानन्द पृथक कवि माना है। उसके अनुसार 'आनन्द-घन' भी दो हुए हैं। एक कोकशास्त्र और सामुद्रिक के रचयिता हैं और दूसरे जैन महात्मा हैं जिन्होंने आनन्दघन—अष्टपदी लिखी है।

बात यह है कि घनानन्द प्रेम के व्याख्याकार कवि थे। वेश्या सुजान के प्रति उनका उत्कंट प्रेम एक अमिट वस्तु थी। इसलिए उन्होंने अपने उपास्यदेव कृष्ण को भी इसी नाम से पुकारा है। जिस रचना म कृष्ण को 'सुजान' नाम से पुकारा गया है। उसे निस्संकोच घनानन्द की कृति कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो अन्य कवियों म दृष्टिगोचर नहीं होती। इस दृष्टि से जिन रचनाओं को घनानन्द की कृति माना जाता है उनम उल्लेखनीय ये हैं:—(१) घनानन्द-कवित्त (२) कृपाकन्द-निबन्ध (३) वियोगवेली। (४) सुजान हित।

सात्विक प्रेम-काव्य

लौकिक प्रेम की अनूभूति के आधार पर पारलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख होने वाला कवि ही प्रेम का सच्चा कवि है। कविवर घनानन्द भी इसी प्रकार के कवि थे। लौकिक प्रेम-काव्य भी दो प्रकार का होता है। एक भोग को उद्दीप्त करता है और दूसरा सात्विकता निर्माण करता है। घनानन्द का प्रेम-काव्य शुद्ध और सात्विक है। उसमें वासना की गंध नहीं।

घनानन्द के प्रेम-काव्य का अध्ययन करने से पूर्व हमें यह देखना होगा कि प्रेम वस्तु क्या है ? प्रेम के दो स्वरूप हैं। लौकिक

और पारलौकिक। जब लौकिक प्रेम में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है तो वह अलौकिक हो जाता है। महाकवि तुलसी के पत्नी प्रेम ने किस प्रकार अलौकिक रूप धारण किया, यह सभी को ज्ञात है। घनानन्द के वेश्या-प्रेम ने भी कालान्तर में कृष्ण-प्रेम की ऐसी पावन धारा बहाई जिसने उसके कवि को अमर बना दिया।

विरह वर्णन

घनानन्द के प्रेम वर्णन में वियोगपक्ष का सुन्दर परिपाक हुआ है। जो रस उनके वियोग-वर्णन में है वह संयोग-वर्णन में नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने घनानन्द के विरह-वर्णन को अत्यन्त सरस और उत्कृष्ट माना है। वियोगीहरि के अनुसार वियोग वर्णन में घनानन्द आनन्द के घन होकर बरसे हैं। निम्न पंक्तियों में विरह कवि मेघ को दूत बनाकर अपने प्रियतम 'सुजान' के पास भेजता है:—

परकाजहि देह कौं धारि फिरौ
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ,
सबही विधि सज्जनता सरसौ।
घन आनन्द जीवन-दायक हौ
कछु मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहू वा विसासी सुजान—
के आंगन मो अंसुवानहि लै बरसौ॥

शैली

घनानन्द सर्वाङ्ग काव्यमूर्ति थे। उनके अन्तःकरण के उद्गार कविता बनकर बरबस फूट पड़े हैं। अलंकारों की लड़ी बांधने वाले कवि उनकी मार्मिक व्यंजना के सामने नहीं टिक सकते। माधुर्य और सरसता की दृष्टि से घनानन्द की टक्कर का कवि अत्यन्त दुर्लभ है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म होने पर भी कवि की विरह टीस का प्रभाव कम नहीं। जिस प्रकार सूर के विरह पदों में भक्तिभाव का अतिरेक है उसी प्रकार घनानंद के विरह-पदों में प्रेमपातियों का आधिक्य है।

एक तिहाई से अधिक पदों में कवि सुजान के पास अपना संदेश भेजता है। इनमें सर्वश्रेष्ठ वे हैं जिनमें पवन और मेघ को दूत बनाया गया है।

घनानन्द की भाषा में शब्द चमत्कार अधिक नहीं। उनका ध्यान अर्थ चमत्कार की ओर ही अधिक रहा है। सेनापति के समान व्यंजना शक्तिहीन अधम-काव्य की उन्होंने रचना नहीं की। प्रेम की विषम परिस्थितियों के निरूपण में कवि ने विरोधाभास का अत्यधिक आश्रय लिया है। निम्न पंक्तियां उनकी इस प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण हैं:—देखियैदसा असाध आंखियां निपेटनि की, भसमी विथा पै नित लंघन करत हैं।

घनानन्द के काव्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी भावनाओं को बिल्कुल नवीन और मौलिक पार्श्वों से ले जाने का प्रयत्न किया है। कवि ने मौन में पुकार सुनी है और नेत्रों में कृपा के कान लगाए हैं। भाव प्रकाप्रकाशन की इस मौलिक और अनुपम शैली की जो छटा घनानन्द के काव्य में यंत्र-तंत्र बिखरी पड़ी है उससे कोई भी उच्चकोटि का कवि ईर्ष्या कर सकता है। निम्न पद घनानन्द की सर्वोत्कृष्ट रचना माना जाता है:—

अति सूधो सनेह को मारग है,
जहां नेकु सयानप बांक नहीं।
तहां सांचे चलैं तजि आपनपौ,
झझकैं कपटी जे निसांक नहीं।
धन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ,
यहां एक तें दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन धौ पाटी पढ़े हो कहो,
मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।

(श्री जानकी वल्लभ)

———

तुलसी और विनय पत्रिका

"अस्थि चर्म मय देह मम,
तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महं,
होति न तौ भवभीति॥"

कान्ता के उपदेश ने तुलसी के प्रेमी हृदय की रसिकता एवं भावुकता के प्रचण्ड प्रवाह को लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख कर दिया। तुलसी का जीवन पहले स्त्रीमय था, अब राममय बन गया। जो तन्मयता एवं एक निष्ठा स्त्री-प्रेम में थी, वह अब राम-भक्ति में हो गई। तुलसी सगुण राम के भक्त कवि बन गए। अध्ययन, पर्यटन, एवं सत्संग के कारण उनके गुणों का विकास और परिष्कार हुआ। 'मानस' आदि महाकाव्य लिखने से भी भक्तकवि को संतोष प्राप्त नहीं हुआ, वरन् उनका राम-प्रेम अधिकाधिक गहन होता गया। अंत में राम-भक्ति का उफान अनुभूति की तीव्रता के साथ इतने प्रचण्ड वेग से हुआ कि उनको साधारण छन्द अपने में समा नहीं सके। उसके लिए गीतिकाव्य का आश्रय लेना पड़ा। कवि ने अपना संपूर्ण हृदय 'विनय पत्रिका' में खोलकर रख दिया।

वर्ण्य-विषय

भक्त चाहे कितना ही निष्काम क्यों न रहे, कम से कम उसके हृदय में यह अभिलाषा तो अवश्य रहती है कि भगवान मुझे अपना समझें। निष्काम भक्त को जब भगवान स्वीकार कर लेते हैं तभी भक्ति पूर्ण समझी जाती है। तुलसी ने अपने पक्ष में तो पूर्ण आत्म समर्पण करते हुए अपनी दीनता और भगवान का महत्व स्वीकार कर लिया तथा आत्मीयता भी 'तेरो' कहकर प्रकट करदी:—

'तूं गरीब को निवाज,
हौं गरीब तेरो।'

परन्तु भगवान की तरफ से भी इसकी स्वीकृति होनी चाहिए।

विनय तुलसी कर रहे हैं:—

'बारक कहिए कृपालु,
तुलसीदास मेरो'

तुलसी यही चाहते हैं कि भगवान उनको शरण देकर अपनी आत्मीयता प्रकट कर दें। इसी के लिए संपूर्ण विनय पत्रिका की रचना हुई है। अन्त में तुलसी को सफलता प्राप्त हो जाती है। राम उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं। उनको शरण में लेकर अपना बना वेते हैं। तभी तुलसी प्रसन्न हो उठते हैं :—

'कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को,
साहब बांह गही है।
विहंसिराम कह्यो 'सत्य है,
सुधि में हूँ लही है।'
मुदित माथ नावत बनी तुलसी,
अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है।'

विनयपत्रिका सीधी नहीं पहुँच सकती। बीच के सभी देवी देवताओं के द्वारा ही प्रार्थनापत्र भेजा जा सकता है। उस समय दरबार में जो व्यक्ति हों वे भी सहायक ही बने इस कारण प्रतिहारी से लेकर बीच के देवताओं, दरबारियों, यहां तक की महारानी जी को भी विनय करके अपने पक्ष में कर लेना आवश्यक है। सभी का स्वतन्त्र अस्तित्व कम है। उनकी प्रार्थना के मुख्य दो उद्देश्य हैं। प्रथम यह है कि वे राम से तुलसी की शिफारिश करदें। द्वितीय यह है कि वे तुलसी की राम भक्ति को दृढ़ कर दें :—

'मांगत तुलसीदास कर जोरे,
बसहिं राम-भक्ति मानस मोरे।'

सर्व प्रथम गणेश वंदना से विनय पत्रिका प्रारम्भ होती है, जो भारतीय संस्कृति के अनुसार मंगलदाता है। सभी देवताओं की दरबारियों, भरत, लक्ष्मण आदि की प्रार्थना करते हैं। शिवजी को

प्रसन्न करते है :—

'दानी कहूँ शंकर सम नाहीं।'

हनुमान की प्रार्थना में भी अधिक तन्मयता है :—

'जाके गति है हनुमान की।
ताकि पैज पूजि आई,
यह रेखा कुलिस पषान की।'

कांता की बात कौन अस्वीकार कर सकता है ? तुलसी ने मानव जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया था। सीता महारानी के पास भी विनय करके अपना नाम रिजर्व करवाना आवश्यक था। दरबार में या रंग महल में, जहां भी अवसर हो, भूमिका स्वरूप करुण प्रसंग चल कर, राम के पास तुलसी की प्रार्थना पहुँचा दें—यही तुलसी की विनय है—यही उनकी लालसा है—वे सीता से यही चाहते हैं :—

"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिओ सुधि धाइबो,
कछु करुण कथा चलाइ॥"

राम से विनय

तुलसी अपनी विनय से सब को प्रसन्न कर लेते हैं। अपने पक्ष में वातावरण निर्मित कर लेते हैं। अब राम की विनय प्रारम्भ होती है। प्रार्थना के पहले आदर सूचक शब्द लिखे जाते हैं।

यदि किसी से विनय की जाती है तो अपनी दीनता एवं असमर्थता प्रकट करते हैं। तुलसी विनय करते हैं।

"तू दयालु, दीन हौं; तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज हारी॥"

राम का महत्व प्रतिपादित करते समय उनके शील शक्ति और सौंदर्य का तो दिग्दर्शन किया ही जाता है, साथ ही उनके सभी

अवतारों का, तथा उस समय के महत्वपूर्ण कार्यों का भी स्मरण किया जाता है। उनके सभी विशेषण और गुण बताए जाते हैं, जिससे उनकी विनय सुनने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न हो। तुलसी ने तो एक बार इतना भी कह दिया है कि यदि भरे दरबार में पातकी को अपनाने में कुछ लज्जा आती हो तो मन ही मन अपना लीजिये यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। बड़े आदमी छोटों से बात करते समय कभी कभी लज्जित होते हैं। चाहे उन में गर्व न हो परन्तु एक झेंप रहती ही है।

अपनी दीनता प्रकट करने के लिये कभी अपनी असमर्थता प्रकट की जाती है, कभी अपने अवगुणों पर दृष्टिपात किया जाता है, कभी प्रार्थना की जाती है, कभी विनय सुनने वाले का महत्व प्रकट किया जाता है, कभी चिरसम्बन्ध बताया जाता है और कभी आत्म-समर्पण किया जाता है। इस प्रकार अनेक भावों भावनाओं, अनुभूतियों तथा मनोवृत्तियों का चित्रण किया जाता है। तुलसी ने अपने भक्त हृदय को खोलकर रखा है। एक ऐसी शक्ति के सामने रखा है जो सब की भक्ति का आलम्बन बन सकता है। तुलसी ने इस तरह मानव की मूल वृत्तियों का उद्घाटन किया है। तुलसी की विनय पत्रिका रस तथा मनोविज्ञान सभी दृष्टियों से अमर कृति है।

विनय में सफलता

दैन्यपूर्ण विनय भक्ति के कुछ अंग हैं जिनका चित्रण विनय पत्रिका में बड़ा सुन्दर हुआ है। तुलसी अपने मन को समझा रहे हैं :—

"राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर-भव-नीर निधि, नाम निज नावरे।"

सम्पूर्ण दोष अपने ऊपर ही ले लेते हैं :—

"है प्रभु मेरो ही सब दोसु।"

भगवान के सामने दीनता प्रकट करते हैं:—

"जैसो हौं' तैसा हों राम !
रावरोजन जनि परिहरिये।"

भगवान का महत्व प्रकट कर रहे हैं :—

"दीन को दयालु दानि, दूसरो न कोऊ।"

अंत में आत्मसमर्पण कर देते हैं :—

दुख सुख सहौं, रहौं सदासरनागत तारे।

तुलसी ने हठ कर लिया है और धरना देकर बैठ गये हैं :—

"तू मेरो, बिनु कहे उठि हौं जनम भरि।

बस, तुलसी यही चाहते हैं कि राम उनको एक बार स्मरण लेकर कह दें कि 'तू मेरो है।'

तुलसी ने मानवहृदय की अनेकों दशाओं का चित्रण किया है। वे सच्चे भक्तकवि थे। हृदय की भावनाओं का गीतिकाव्य में चित्रण करना काव्य को अमरत्व प्रदान करना है। परन्तु तुलसी विद्वान, दार्शनिक, विचारिक तथा समाज के नेता थे। उन्होंने विनय पत्रिका में कुछ सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है जो श्रेष्ठतम काव्य की श्रेणी में तो नहीं रखे जा सकते परन्तु तुलसी की कलामय प्रतिभा ने उनके सौन्दर्य को भी कई गुना बढ़ा दिया है।

तुलसी का सिद्धान्त था कि भौतिक जीव को यह विश्व रमणीय प्रतीत होता है तथा इन्द्रिय सुख प्रदान करता है परन्तु इसका परिणाम भयंकर है—

"अनिविचार रमणीय सदा,
संसार भयंकर भारी।"

यदि इसी विश्व को सियाराम मय' जाना जाय तो अलोकिक आनन्द प्राप्त हो सकता है। परन्तु यह तभी है जब हमारी अन्तः

चेतना को जाग्रित करके विश्व के अलौकिक रूप को देखें। इसके लिए कलियुग में जप, योग, ज्ञान, आदि निरर्थक हैं।

"जोग, जाग, तप, विराग,
तप, सुतीरथ अटत।"
बांधिवे को भवगयंद,
रेनु की रजु बटत॥"

अन्तः चेतना की जागृति के लिए आवश्यक है हरिकृपा साधक भक्ति के द्वारा इसकी प्राप्ति की चेष्टा करे।

कलियुग में भक्तिमार्ग सरल, सुगम एवं उचित है। ज्ञान मार्ग में पतित होने का और माया में फंसने का भय रह गया है—"ज्ञान पंथ कृपान की धारा" भक्ति से ज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है।

"राम राम नाम सो
विराग जोग जागि है।"

राम सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में ब्रह्म हैं :—

"अमल, अनवद्य, अद्वैत, निर्गुण सगुण ब्रह्म सुमुरमिरभूप रूपं। ज्ञानी भक्त बनो—कोरा ज्ञानी नहीं।

तुलसी के हृदय में बड़ी तीव्र अनुभूति थीं जिनकी अभिव्यक्ति ब्रजभाषा गीति काव्य में ही हो सकती है। क्योंकि यही काव्य की सूक्ष्मतम शैली है जो भावों की गहनता और तीव्रता को वहन कर सकती है।

ब्रज भाषा स्वभावतः प्रसाद-माधुर्ययुक्त है। इसका प्रयोग माधुर्य भक्ति के लिए गीति तत्व के आधार पर किया जाय तो एक अमर काव्य की रचना हो सकती है।

विनय पत्रिका गीति काव्य का सर्व श्रेष्ट उदाहरण है। भारत का गायक समाज इसके बिना अधूरा ही है। तन्मयता, आत्मविस्मृति,

भावसंगटन, और गीतात्मकता आदि सभी इसमें उच्चता से प्राप्त हो जाते हैं। प्रारम्भ के ६५ पदों को छोड़ कर, जिनमें संस्कृत का बाहुल्य है। शेष सम्पूर्ण पदों में हिन्दी का आदर्श स्वरूप प्रतिष्ठित है। यह प्रसाद-माधुर्य गुणों से युक्त है—संगीत की स्वर लहरी है और अनुभूति की तीव्रता है। भावों के अनुकूल ही भाषा है। उन्हों के अनुकूल है रागिनी।

एक दृष्टि से प्रारम्भ के पदों की संस्कृत बहुलता भी उचित ही है। संस्कृत के प्रभाव से उसमें एक आदर्शमयता और देववाणी का देवत्व आ जाता है। जिसको देवताओं की स्तुति करने के लिये स्वाभाविक साधन के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। बड़ों की स्तुति में उनके अनुकूल भाषा का प्रयोग करना पड़ता है।

भाव और भाषा, रस और अलंकार, स्वर और रागिनी, आदि सभी दृष्टियों से विनय पत्रिका साहित्य का वह रत्न है जिसके प्रकाश के सामने अन्य रत्नों का प्रकाश मंद पड़ रहा है। अतः विनय पत्रिका पर हमें गर्व है।

(श्री ब्रजमोहन शर्मा एम० ए०)

———

मुसलमानों की हिन्दी सेवा

मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में सारा राज कार्य हिंदी में ही किया जाता था। हिंदू शासकों के आश्रय में रहने वाले कविगण उनकी स्तुति भी हिंदी भाषा में ही किया करते थे। मुसलमानों ने जब पूर्णतया अपने कदम भारत में जमा लिए तो उनके लिए भी उस समय की भारतीय जनता से सम्पर्क बढ़ाने के लिए उनकी भाषा हिंदी का सीखना अनिवार्य सा हो गया। और दिन पर दिन हिंदी उन्हें अपने बाहुपाश में जकड़ती ही गई। पराजित राजाओं के आश्रित कवि अपनी उदरपूर्ति के साधनों को स्थिर रखने के लिए मुसलमान शासकों के दरबार में आये और उनकी स्तुति गान आरम्भ कर दिया। इस सम्पर्क के माधुर्यपन के मुसलमानों को हिन्दी और हिंदुओं को कुछ प्रेम सा हो गया। जिसके कारण मुसलमान अपने हार्दिक उद्गारों को हिन्दी में लिखने के साथ साथ ही उसकी उन्नति की भी कामना करने में लीन हो गये। तभी से हिंदी केवल हिंदुओं की भाषा न रहकर उस समय की जनता की राष्ट्र भाषा बन गई।

मुसलमान कवि और हिन्दी

चौदहवीं शताब्दी के आसपास मुसलमान सूफ़ी कवियों ने अपने मत का प्रचार करने के लिए सर्व प्रथम हिंदी में प्रेमात्मक आख्यान काव्यों की रचनायें कीं। मलिक मुहम्मद जायसीकृत पद्मावत-प्रचार ग्रन्थ न बनकर एक मात्र प्रबन्ध काव्य बन गया; क्योंकि हिंदी के माधुर्य-पन के कारण वे जितना लिखना चाहते थे उससे कहीं अधिक और उन्नत लिख गये? और हिंदी साहित्य ने एक अनमोल रत्न की प्राप्ति की। इनके उपरांत कुतबन, नूर मुहम्मद और मंझन आदि सूफ़ी कवियों ने हिंदुओं की प्रचलित कथाओं को लेकर अपने काव्य की पृष्ठ भूमि बनाते हुए हिंदी की अन्तिम सेवा की। इन आख्यान काव्यों में अनेक परस्पर विरोधी तत्वों का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य हुआ है। ये प्राचीन पद्धति के विकसित स्वरूप होते हुए भी अपने रूप में सर्वथा मौलिक और नवीन थे। अब तनिक इनकी रचना शैली का दिग्दर्शन कीजिये:—

पदमावति मन रही जो भूरी। सुनत सरोवर-हिय गा पूरी॥
अद्रा महि-हुलास जिमी होई। सुख सोहाग आदर भा सोई॥
राजा जहाँ सूर परगासा। पदमावति मुख-कंवल बिगासा॥
कँवल पायँ सूरुज के परा। सूरुज कँवल आनि सिरधरा॥
पूजा कौनि देऊँ तुम्ह राजा ? सबै तुम्हार, आव मोहि लाजा॥
तन मन जोबन आरति करऊँ। जीव काढ़ि नेछावरि धरऊँ॥
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम पग धरहु; सीस मैं लावौं॥
जौ सूरज सिर ऊपर तौ रे कँवल सिर छात।
नाहिं ते भरे सरोवर सूखे पुरइन-पात॥

—जायसी

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

—कुतबन

देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छँदर्‌यो मोही॥
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रव सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेस। एही रूप जग रंक नरेस॥

—मंभन

वलंदीप देखा अँगरेजा। तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा॥
ऊँचनीच धन-सम्पति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा॥

—उसमान

कामयाब कह कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा॥
छाँड़ि पारसी कंद नवातैं। अरुझाना हिंदी रस-बातैं॥

—नूर मुहम्मद

मुहमदसाह दिल्ली सुलतानू। का मन गुन ओहि करे बखानू॥
छाजै पाट छत्र सिर ताजु। नावहिं सीस जगत के राजू॥
रूप वंत दरसन मुँह राता। भागवंत ओहि कीन्ह विधाता॥
दरबवंत धरम मँह पूरा। ज्ञानवंत खड़ग महँ सूरा॥

—कासिम शाह

हिन्दुओं की सरल भक्ति और समय की परिस्थितियों के कारण मुसलमान हिन्दी की ओर झुकते गए और अपनी वाणी से उन्नत शैली में हिन्दी साहित्य को अलंकृत किया। उस समय का साहित्य - समाज हिन्दू या मुसलमान में कोई भेदभाव न समझता था, अतः हिन्दी को जनता की भाषा समझ कर मुसलमानों को उसमें साहित्य-सृजन करने में किसी प्रकार की हिचक न थी। हिन्दू भक्ति के प्रभावित होकर राधाकृष्ण के अनुयायी रसखान, सुजान और आलम आदि कवियों ने हिन्दी भाषा के भण्डार को भरने के लिये उसके साहित्य का सृजन किया। इनका हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। इनकी भक्ति रस में डूबी हुई कविताओं का तनिक निरीक्षण कीजिए—

मानुष हौं तो वहीं रसखान बसों ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरों चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरे करौं मिल कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

—रसखान

दिल्ली पति अकबर सुरताना। सप्तदीप में जाकी आना॥
धरम राज सब देस चलावा। हिंदू तुरुक पंथ सब लावा॥

—आलम

पूनम चाँद, कुसूँभ रंग नदी - तीर द्रुम-ढाल।
रेत भीत, भुस लीपणी, ए थिर जमाल॥

—जमाल

ये रहीम दर दर फिरै, मांगि मधुकरी खाहि।
यारो यारी छाँड़िए, अब रहीम वे नाहि॥

— रहीम

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान-ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरावो है॥

—कादिर

परी मुबारक तिय-वदन अलक ओप अति होय।
मनो चन्दकी गोद में रही निसा सी सोय॥

—मुबारक

भक्ति भावनाओं में डूबे हुए ये उपरोक्त काव्यांशों को हिन्दी साहित्य कदापि न भूल सकेगा।

इनसे पूर्व अमीर खुसरो हिन्दी का वास्तविक रूप निश्चित करके उसके कोष को अपने अमूल्य रत्नों से पूर्ण कर गये थे। फारसी के विद्वान् होते हुए भी इन्होंने हिन्दी में बहुत अच्छा लिखा है। हिन्दी का पहला वास्तविक नाम तो आर्य भाषा ही था परन्तु खुसरो ने उसे यह नाम दिया। उनकी पहेलियां हिंदी में विशेष महत्व रखती है।

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में बैठी।
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय॥

—खुसरो

इनके आगे ही कबीर जी की हिंदी सेवायें सम्मुख आजाती हैं। इन्होंने व्यवहार की और तत्वज्ञान की बहुत गहरी विवेचनायें अपनी सरल और सीधी हिंदी भाषा में की है। हिंदू और मुसलमानों के बढ़ते हुए पारस्परिक वैमनस्य को अपने उपदेशों से समाप्त कर दिखाया।

एकै सधि सब सधै सब साधे सब जाय।
जो तू सेवै मूल को फूलै फलै अघाय॥

—कबीर

१७ वीं शताब्दी में रीतिकाल के अन्य मुसलमान कवियों ने मन बहलाव और रागरंग के लिए गद्य-पद्य का पर्याप्त साहित्य सृजन किया। अमीर अली मीर आदि कवि तो स्वभावतः हिन्दी और इसके साहित्य से अनन्य स्नेह होने के कारण वास्तव में स्मरणीय है, हमें उनके प्रति चिर कृतज्ञ होना पड़ेगा।

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं ॥
—आलम

अभिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि—झुकि परत, जोहि चितवत इक बार ॥
—रसलीन

साधना के कारण मुसलमानों की हिन्दी रचनाओं में किसी तरह की विभिन्नता या न्यूनता नहीं मिलती है। सूफ़ी कवियों का तो हिन्दी साहित्य में वि ोष स्थान है। अतः शुक्लजी ने 'मानस' के अनन्तर सूफ़ी कवि जायसी कृत 'पद्मावत' को दूसरा स्थान दिया है। भक्ति काल में कृष्ण काव्य के अन्तर्गत रसखान चिर स्मरणीय रहेंगे। रीतिकाल में रहीम आलम, रसलीन आदि कवियों का एक विशेष महत्व पूर्ण स्थान है।

मुसलमानों की सेवाओं से हिन्दी का आधुनिक युग वंचित न 'रह सका। सैयद इन्शा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' इस अमूल्य युग को भेंट की। अतः हिन्दी गद्य के चतुष्ठा लेखकों में इन्शा अल्ला खां का नाम विशेष सम्मान से लिया जाता है।

परिस्थितियों और विवशताओं ने मुसलमानों का हिन्दी से पृथक कर दिया और धीरे फैलने वाली फ़ारसी से उर्दू भाषाको घरेलु राष्ट्रभाषा का स्थान मिला। और अपने साहित्य सृजन का कदम उर्दू के पथ की ओर मोड़ ही दिया। परन्तु आरम्भ की लहर में ये जितनी हिन्दी की सेवा कर गये हैं हमें उसी को स्मरण कर इन का धन्यवाद करना चाहिए।

मुसलमान शासक और दिन्दी

मुसलमान शासकों की हिन्दी सेवा भी उल्लेखनीय है। महा-युद्ध में अकबर इत्यादि शासकों ने हिन्दी कवियों को ससम्मानके साथ

स्थान देते रहे इन्होंने सेवा ही नहीं की बल्कि हिंदी की टूटी हुई श्रृंखला को जोड़ने में चम्बुक का काम किया। जिससे परम्परा बनी रही। अकबर ने हिन्दी कवियों को यथा समय पुरस्कार दे देकर उनके उत्साह को दिन दुगना और रात चौगुनी के समान बढ़ा दिया। बीजापुर के अली आदिलशाह ने फ़ारसी को हिन्दी के सामने तुच्छ समझकर उसे राष्ट्रभाषा के रूप में समझा था।

इससे स्पष्ट है कि जो सम्मान हिन्दी मुसलमान युग में पागई वह बाद में उसे कहीं न मिल सका। ऐतिहासिक खोजों से पता चला है कि मुस्लिम शासकों के सिक्कों पर हिन्दी के अक्षर थे और हिन्दी के कालाँक। और उनके नाम भी हिंदी में ही खुदे हुए थे। राजकार्य भी हिंदी में ही किया जाता था। इसके अतिरिक्त शासक लोग भी स्वयं हिंदी में ही कविता करते रहे हैं और उसके लिए हरप्रकार का बलिदान करने को तत्पर रहते थे। अब तक इन्होंने हिन्दी की उन्नति का मार्ग खोला तब तक उनका राज्य भी समृद्धि शाली बनारहा, परन्तु हिंदी विरोधी नीतिको अपनाने के उपरान्त उनके शासन का अधः पतन आरम्भ हो गया।

इस 'ऐटमयुग' में भी अमीरअली 'मीर' जहूरबख्स आदि विख्यात कथाकार हिंदी को प्रगतिवादी साहित्य देकर हिंदी की अच्छी सेवा कर रहे हैं।

इस सारे लेख से स्पष्ट हो जाता है कि यदि हिंदू लेखकों ने हिन्दी अंकुर को सींचकर बड़ा किया, तो विकसित करने का पर्याप्त श्रेय मुसलमान लेखकों को ही है। यदि हिंदू उसका शरीर हैं तो मुसलमान उसके जीवन दायिनी प्राण हैं। हिंदू-मुसलमानों का हिंदी के साथ चोली दामन का साथ है। इनको किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता है। मुसलमानों की हिंदी सेवायें आदरणीय हैं। हर मुसलमान कवि या कथाकार अपने-अपने स्थान पर अपना पृथक महत्व रखता है। इनकी आभासे हिंदी साहित्यकाश द्विगुणित रूप से सर्वदा आलोकित रहेगा।

(श्री ललित विमल)

महाकवि चन्द और पृथ्वीराज रासो

महाकवि चन्द का जन्म सं० १२०५ में हुआ था क्योंकि रासो में महाराज पृथ्वीराज का जन्मकाल अनन्द संवन् ११११५ दिया हुआ है। अनन्द संवत् और विक्रम संवत् में ६० वर्ष का अन्तर है अतः उस समय विक्रम संवत् १२०५ था। रासो में लिखा है—

इक दीह उपज इक दीह समापकम।

अर्थात् पृथ्वीराज और चन्द एक ही दिन उत्पन्न हुए थे और एक ही दिन निधन को प्राप्त हुए थे। अतः चन्द का भी जन्म-संवन १२०५ ही हुआ।

कवि चन्द के पिता का नाम राववेनू था। ये लाहौर के निवासी थे। चन्द का जन्म वहीं हुआ था। इनके पिता जगात गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे। कुछ लोग इन्हें सूरदास का पूवज मानते हैं और सूरदास की साहित्य लहरी के उस पद का प्रमाण देते हैं जिस में सूर की वंशपरम्परा दी हुई है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नानूराम भट्ट से जो वंश वृत्त मिला है, उसकी परम्परा साहित्य-लहरी से मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि नानूराम से प्राप्त वंशावली में परम्परा जल्लचंद से चलती है जब कि साहित्य-लहरी में गुणचन्द से।

कुछ काल पश्चात् चन्द के पिता राववेनू ने पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के दरबार में आश्रय ले लिया अतः चन्द का पालन-पोषण और शिक्षा पृथ्वीराज के साथ ही हुई। जब पृथ्वीराज ने शासन भार संभाला तो चन्द उनके दरबारी कवि हुए। ये उनके दरबारी कवि ही नहीं वरन् परम सखा और सामन्त भी थे।

चन्द के दो विवाह हुए। पहली स्त्री का नाम कमला था और दूसरी का गौरी। गौरी परम सुन्दरी और विदुषी थी अतः इनका विसर्गतः प्रेम-गौरी से ही अधिक था। रासो की कथा भी गौरीचन्द के प्रश्नोत्तर के रूप में ही गौरी महाराज पथ्वीराज के जीवन की

विविध घटनाओं के विषय में प्रश्न करती है और चन्द उनका उत्तर देते हैं। इनके दस पुत्र और एक पुत्री हुई, जिन में जल्हण ही विशेष गुणवान् था—

दहति प्रभ कवि चंद के, सुन्दर रूप सुजान।
इक जल्हन गुन बावरो, गुन समुंह समान॥

चन्द ने महाराज पृथ्वीराज की प्रशंसा में 'पृथ्वीराज रासो' नाम का एक महाकाव्य ६६ समयों में लिखा। इस काव्य में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा पुनः चौहानों के अजमेर में राज्य स्थापन से लेकर शहाबुद्दीन गोरी द्वारा पृथ्वीराज को बन्दी बना कर गज़नी ले जाने तक की कथा विस्तार पूर्वक दी हुई है।

पृथ्वीराज के गज़नी ले जाए जाने के पश्चात् चन्द भी असमाप्त रासो को अपने योग्य पुत्र जल्हण के हाथों में सौंप कर गजनी चले गए—

'पुस्तक जल्हण हत्थ दै चले गजन नृपकाज।'

और वहां षडयंत्र रचकर पृथ्वीराज से संकेत करके शब्दवेदी बाण द्वारा गोरी की हत्या कराकर स्वयं भी परस्पर आघात कर निधन को प्राप्त हुए।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में बड़ा विवाद है। कुछ विद्वान् इसे प्रामाणिक बतलाते हैं और कुछ अप्रामाणिक। इसकी प्रामाणिकता पर सनेह करने वालों में सर्वप्रथम जोधपुर के श्री मुरारिदान और उदयपुर के श्री श्यामलदास का नाम उल्लेखनीय है। उन्हीं के आधार पर प्रो० बूलर ने इसे अप्रामाणिक बतलाते हुए सन् १८७५ ई० में काश्मीर में प्राप्त संस्कृत ग्रन्थ 'पृथ्वीराज विजय' को प्रामाणिक बतलाया और लिखा कि इस ग्रन्थ का रचयिता पृथ्वीराज ही समकालीन था तथा इस में चौहानों का वर्णन रासो के वर्णन से भिन्न है परन्तु वि० सं० १०३० और १२२५ के शिलालेखों से मिलता है।

रासो के अप्रामाणिक मानने वालों में प्रो० बूलर, मुंशी देवीप्रसाद, म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री रामचन्द्र शुक्ल का नाम विशेष उल्लेख योग्य है और प्रामाणिक मानने वालों में पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या, डॉ० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, म० म० हरप्रसाद शास्त्री आदि प्रधान हैं।

इसे अप्रामाणिक सिद्ध करने वालों के समष्टिरूप में कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) रासो में कुछ कल्पित राजाओं के नाम भी दिए हुए हैं, यथा जेत और शलख नाम के राजा उस समय आबू पर्वत पर राज्य करते थे परन्तु शिलालेखों में उनका नाम कहीं नहीं है। आबू पर तो उस समय धारावर्ष प्रमार नाम का राजा राज्य करता था।

(२) कई ऐसे राजाओं का पृथ्वीराज के हाथों मारा जाना लिखा है जो पृथ्वीराज की मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहे, जैसे गुजरात का राजा भीमदेव और शहाबुद्दीन गोरी। मुसलमान इतिहासकारों तथा शिलालेखों के अनुसार भीमदेव संवत् १२७२ तक जीवित रहा तथा शहाबुद्दीन गोरी भी पृथ्वीराज को मारकर दश वर्ष पश्चात् सं० १२६० में गक्कड़ों के हाथ से मारा गया।

(३) चन्द ने रावल समरसी के ज्येष्ठ पुत्र कुंभा का बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जाना लिखा है। पृथ्वीराज के समय में तो मुसलमान उत्तरी भारत में ही आए थे। बीदर का राज्य तो अहमदशाह वली ने सन् १४३० (वि० सं० १४८७) में स्थापित किया था। अतः यह ग्रन्थ इसके पश्चात् बना होगा।

(४) रासो में सोमेश्वर और मेवात के मुग़ल शासक का युद्ध लिखा है। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि भारत में मुगल राज्य बाबर ने सन् १५२६ ई० (वि० सं० १५८३) में स्थापित

किया था। इससे इस ग्रन्थ का निर्माण इसके अनन्तर ही सिद्ध हुआ।

(५) रासो की चर्चा या विवरण न किसी पुस्तक में मिलता है और न किसी शिलालेख में। सर्वप्रथम इसका उल्लेख वि० सं० १७३२ में राजसिंह द्वारा राजसमुद्र तालाब के किनारे स्थित शिलालेख में मिलता है। अतः यह ग्रन्थ वि० की १७ वीं शती में बना होगा।

इन उपरिलिखित एवं और भी अनेक प्रमाणों से उपरोक्त विद्वानों ने इसे अप्रमाणिक सिद्ध किया। परन्तु मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि विद्वानों ने इसे प्रामाणिक सिद्ध करते हुए लिखा कि अनेक घटनाओं में इसकी तिथियाँ इतिहास से इसलिए नहीं मिलतीं क्योंकि इसमें अनन्द सम्वत् का प्रयोग हुआ है। इस अनन्द संवत् की कल्पना पंड्या जी ने "एकादस से पंचदह विक्रम साक अनन्द" आदि के आधार पर की। उन्होंने अनन्द का अर्थ इस प्रकार किया कि 'नन्द नौ और 'अ' शून्य अर्थात् ९०। विक्रम संवत् में से ९० घटा देने से चन्द की दी हुई तिथियां ठीक मिल जाती हैं। मिश्रबन्धुओं ने भी इस अनन्द संवत् को माना और कहा कि जहां भी मुग़ल आदि का उल्लेख है और इस प्रकार तिथियों में लम्बा अन्तर है वहां काव्यॉश को प्रक्षिप्त समझना चाहिए।

वास्तव में देखा जाय तो चन्द एक ऐतिहासिक व्यक्ति है, जिसने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की थी। हां, यह निश्चित है कि चन्द के पश्चात् समय समय पर इसमें बहुत कुछ जोड़ दिया गया परन्तु यह कहना असम्भव है कि इसमें कितना अंश चन्द-रचित है और कितना प्रक्षिप्त।

इस ग्रन्थ की भाषा के विषय में चन्द ने स्वयं लिखा है—

वट भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।

इससे ज्ञात होता है कि इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देशभाषा, अरबी-फारसी, राजस्थानी और डिंगल आदि भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

रासो की भाषा में सुचारुता नहीं है। कहीं कहीं तो शृंगार के वर्णन में वीररस के अभिव्यंजक वर्णों का व्यवहार हुआ है। कहीं एक ही छन्द में अनेक भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए मिलते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही शब्द अनेक रूपों में आया है, यथा—

शैल-सैल, सयल, सइल
एक-एक, इकह, इकि, इक्क
अस्नान, सनान, न्हान आदि।

इस ग्रन्थ में दूहा, गाथा छन्दों के अतिरिक्त त्रोटक, तोमर, छप्पय, कवित्त, कुण्डलिया, भुजंग-प्रयात, पद्धति आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। कभी कभी एक ही छन्द भिन्न रसों के प्रतिपादन में काम आया है, जो खटकता है।

रस के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसमें प्रधानतः वीर रस है। शृंगार का वर्णन वीररस के उत्तेजक के रूप में और रौद्र, भयानक और वीभत्स का सहकारी के रूप में हुआ है।

अलंकारों में प्रायः सभी अलंकार प्रयोग में आए हैं परन्तु विशेषतः रूपक और उत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक हुआ है।

इसमें महाकाव्य के अनेक लक्षण मिलते हैं। क्षत्रिय, कुलोत्पन्न राजा पृथ्वीराज इसके धीरोदात्त नायक हैं, जिनमें धीरता, वीरता आदि गुण विद्यमान हैं। इसमें वीररस प्रधान है और शृंगार आदि सहकारी होकर आए हैं। प्रकृति चित्रण और युद्ध आदि का वर्णन भी इसमें पर्याप्त है। हां समयों की अधिकता और दीर्घता तथा छन्दों का परिवर्त्तन अवश्य इसके महाकाव्यत्व में बाधा डालता है। अस्तु, कुछ भी हो इसके विशालकाव्य वीरकाव्य होने में तो कोई सन्देह ही नहीं। अन्त में यह कहना उपयुक्त होगा कि 'चन्द वरदाई' हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकवि है और 'पृथ्वीराज रासो' महाकाव्य।

(डॉ० विमल कुमार जैन एम० ए०, पी० ऐच० डी०

———

कवि सूर

वह जो सामने दीप जल रहा है–प्रकाश दे रहा है और साहित्यिक पथ को आलोकित कर रहा है तथा जिस के चारों और साधक बैठे अपनी साधना का वरदान मांग रहे हैं- हमारे पाठक जानते ही होगे कि वह दीप और किसी का नहीं - सूर का है और आलोक उसी भावना-काव्य का है। हां तो सूर कवि है न ? कवि हीं नहीं चतुर चितेरे भी। आइये आज कवि की दृष्टि से सूर से परिचय प्राप्त करें।

सूर वात्सल्य के चितेरे थे और वात्सल्य था सूर का चित्र। यदि सूर का पहला नाम वात्सल्य और वात्सल्य का दूसरा नाम सूर कहें तो अत्युक्ति न होगी।

अन्धे गायक सूरदास की झोपड़ी में चले आइये। यहां आप को सूरदास द्वारा निर्मित चित्र मिलेंगे-अन्धी आंखों से पानी बह रहा है और तान पूरे पर गा रहे हैं :—

'अब हौ नाच्चौ वहुत गोपाल'

पहला चित्र

मैया मोरी कब बढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहू है छोटी।।
तू जो कहति बलकी वेनी, ज्यो हैं हैं लांबी मोटी।
काढ़त, गुहत, न्हावत, ओछत, नागिन सी भुहं लोटी।
काचो दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन रोटी।
सूर-स्याम' चिरजीवौ दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी।।

यशोदा को तुरन्त एक बात सूझ गई और वह कह उठी:—

'कजरी को पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़े।'
हठी लड़के का मन और बहलाया भी कैसे जाए ?

दूसरा चित्र भी कम आकर्षक नहीं है- सूर की ममता और स्नेह का सागर उमड़ पड़ा है—इसमें आत्मा का सारा जोर लगा कर बनाया गया है यह चित्र। स्वाभाविकता देखनी हो तो देखिए:—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौ।
मौसो कहतु मोल कौ लीनों, तोहि जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं, या रिस के मारे, खेलन हौ नहीं जात।
पुनि--पुनि कहतु कौन तुब माता, कौन तिहारो तात।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हंसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाऊहि कबहु न खीजभै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति अति मन रीभै॥

यह है सूर की भावना का रंग, जो युग युगों तक धूमिल नहीं हो सकता-पुराना नहीं पड़ सकता, सदा नवीन रहेगा—

और तभी हमारी दृष्टि वात्सल्य के तीसरे चित्र पर पड़ी। चित्र का शीर्षक था "कन्हैया"

जा दिन तें हम तुम ते बिछुरे काहु न कहों कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्हीं घैयाँ॥

सचमुच इन दो पंक्तियों में कवि ने हृदय को निकाल कर रख दिया है। कितनी पीड़ा और कितनी कसक है। यहां आकर हम राजा, हो गये, महाराजा बन गये। सब अधिकार मिल गया तो ममता तो खो गई। किसी ने तेरे जैसे स्नेह से "कन्हैया" तो नहीं कहा।

यह है सूर के चित्रों की हृदय-ग्राहिकता। जो सीधे हृदय में जा कर घर कर लेते हैं। लौटनेका नाम नहीं लेते, भूलने का नाम नहीं लेते, जिन में दर्द और कसक है। पीड़ा और अनुभूति है। हां इसी लिए तो सूर कवि है साहित्य गगन के 'सूर' हैं। ये सब से प्रथम कवि उसके बाद भक्त और उसके बाद कुछ और।

चौथा चित्र बड़ा मार्मिक है। मां की ममता उमड़ आई है शब्दों में। अरे पथिक तुम जा तो रहे हो, जरासा हमारा भी काम करते आना। वह जो देवकी महारानी हैं—जहाँ हमारे लाल (कृष्ण) गये हुए हैं। उनसे केवल मुझ दुखियारी की इतनी विनती कह देना:—

सन्देसो देवकी सो कहियो।
हो तो धाय तिहारे सुत की, दया करत नित रहियो॥
तुम तो देवं जानति ही है हो, तऊ मोहि कहि आवे।
प्रातहि उठत तुम्हारे लालहिं माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल देखे ही भजि जाते।
जोई-जोई मांगत सोई-सोई देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते॥
'सूर' पथिक! सुनि मोहि रैनि बडो रहतु जिय सोच।
मेरे अलक लड़ैतो लालन है ह्वै करत संकोच॥

और सचमुच यशोदा के नेत्र छल छला उठते हैं और उसके साथ ही साथ सूर के तान पूरे की ध्वनि लुप्त हो जाती हैं, केवल शून्य में गूंजती रहती है विकलता .....

हो तो धाय तिहारे सुत की......।

यह है सूर के चार चित्रों की झाँकियां। अव आप ही समझ जाइये—साहित्य और कला, जीवन और सौन्दर्य सबका मिलन ही हो गया है सूर के इन चित्रों में।

सूर कवि है—क्या अब भी इसमें सन्देह है. दुविधा है?

सूर का काव्य क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं था। उन्होंने तो वात्सल्य और श्रृंगार दो ही रसों को चुना। 'भ्रमर-गीत' श्रृंगार की अमिट झांकी है तो 'सूर सागर' में सवा लाख पद है। जिनमें से किसी को ही उठाकर देख लीजिए। कोई सा भी साहित्य की प्रदर्शिनी में प्रथम पुरस्कार लिये बिना नहीं रह सकता...कमाल कर दिया है—सूर ने।

इसी कारण तो सूर को छोड़ कर वात्सल्य की और उक्तियाँ

सूर की झूठीं सी जान पड़ती है।

किसी ने सत्य कहा है :—

"तत्व तत्व सूरा कही।"

सूर ने वास्तृव में वात्सल्य के वर्णन में कमाल का दिया है...।

उस दिन एक साहित्यिक समारोह हो रहा था और तभी कोई व्यक्ति वेहाल दिखाई दिया...सिर धुन रहा था। आलोचकों ने पूछा—

किधों सूर कौ सर लग्यों कि-धौ सूर की पीर!
किधौ सूर को पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर।

क्या तुम्हें किसी वीर का बाण लग गया है? उसने वेकली से कहा 'नहीं'। तो क्या किसी वीर की पीड़ा का अनुभव हो गया है? तड़फने वाले ने कहा 'नहीं', । तब प्रश्न कर्त्ता ने पूछा—

क्या तुम्हें सूर दास का पद लग गया है, जो तुम अपने शरीर को धुन रहे हो? इसपर उस व्यक्ति ने 'हां' कर दी।

तो देखिये यह है सूर के काव्य की विशेषता, यह है उनका चमत्कार, और इसे कहते हैं सच्ची लगन या अनुभूति। इसी लिये तो यह मानना ही पड़ेगा कि सूर ने जो चित्र उतारे हैं वह कला-पूर्ण तो हैं ही, साथ ही साथ उनमें अलंकारों का भी अभाव नहीं है...छन्दों की भी कमी नहीं है। वैसे इनकी कविताएं-गीत-काव्य के सफल चित्र हैं। हृदय निकली हुई स्वच्छ झाँकियां हैं।

अब ज़रा भक्ति के सूर को भी देखिये :—

चरण कमल बन्दों हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरी लाघें, कन्धे कु सब कुछ दरसाई।
वीरों सुने मूक पुनि बोलै, रंक चलें सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी-करूणा मय बार बार बन्दौ तेहि पाई।

धन्य सूरदास! धन्य-तुम सचमुच कवि के साथ साथ भक्त हो भी।

जो आलोचक सूर को कवि की कोटि से हटा कर भक्त की

श्रेणी में रखते हैं—वह सूर के साथ अन्याय करते हैं।

सूर तो सच्चे अर्थों में कवि थे—कवि ही नहीं वात्सल्य के तो महा कवि थे।

(कुमारी निर्मला माथुर)

कवि और कृति

कवि की अभिव्यक्ति को ठीक प्रकार से, सच्चे अर्थों में समझने के लिए सरल और सहृदय होना अनिवार्य है। वैसे तो कहने को यह बात प्रचलित है कि कवि की कृति, जड़ता में हलचल मचाने का सामर्थ्य रखती है परन्तु वस्तु की सूक्ष्मता तक पहुँचना एक बात है और कवि काव्य की रसिकता से आनन्द प्राप्त करना दूसरी बात है। मैं तो यही समझ पाई हूँ कि अधिकतर कथित साहित्य प्रिय जनता, कवि की आकृति-प्रकृति और कवि के बाह्य व्यवहार-व्यापार से जितना ग्रहण करती है, उतना वह योग्यतावश वा विवशतावश कवि की अनुभूति तक नहीं पहुँच पाती। वे कवि के मुख को, वेषभूषा को और उसकी लहरीली मुद्राओं को अपने हृदय में जितना अंकित कर लेने में समर्थ है······कवि और कृति हृदय की छाया तक भी वे नहीं पहुंच पाते, मैं तो इसे कवि और साहित्यिक जनता, दोनों के वातावरण की एक शिथिल अवचेतनामात्र मानती हूं।

एक श्रेष्ठ कवि की कृति समझने के लिए हमें सदैव निम्न स्तर से ऊँचा उठने की आवश्यकता है। कवि और उसकी आत्मा को हम तभी स्पर्श कर सकते हैं जब कि हमारी भावभूमि में नवीन अनुभूति के लिए तीव्र चेतना और सहिष्णुतासहित नाना प्रकार के विचित्र और रहस्यात्मक विचारों का, अपने शान्त मानस में आह्वान कर सकने की क्षमता हममें हो। कवि की पृष्ठ भूमि और जीवन की वास्तविकता है: अपने वातावरण में स्वर्ग की कल्पना। जिसे हम साधारण बोलचाल के शब्दों में कवि के दिवास्वप्न कहते हैं, उन्हें समझने के लिए असीम और चरम कोटि की सहिष्णुता हमें धारण करनी होगी। बिना धैर्यवान् बने, कवि की रचना को, जिसकी सृष्टि

जीवन में भावनाओं द्वारा ही व्यक्त होती है......हृदयंगम करने में हम सदैव असफल रहेंगे।

साहित्य के आलोचकों ने, कवि को भावों के चितेरे के रूप में ही पाया है। कवि अपनी भावुकता की तीव्रता से, शब्दों की चेतना को विस्फुरित कर सन्तोप पाता है।

कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति रहित रचना कभी साकार नहीं होती। कवि, कृति का निर्माण उसी समय आरम्भ करता है, जब वह अपनी हृदय की उद्विग्नता से तिलमिला उठता है, वा वह आह्लाद की चरम सीमा पर पहुंच इतना उत्फुल्लमना होता है कि मानस में आलोड़ित होरहे भावों को, अपने में और अधिक समय तक समाये रखने में नितान्त असमर्थ पाता है। यहां बुद्धि ठोक ठोक कर कम्पोज़ करने वाले कवियों की सुन्दर पंक्तियों की तो कोई चर्चा ही नहीं है, यहाँ तो कवि और उसकी कृति की अनुभूतिमय भाव-भूमि की बात है।

आज हम, कवि कृति की रहस्यात्मकता को सचमुच समझना तो चाह रहे हैं, किन्तु हम उसे तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि हमारा हृदय स्पन्दन हीन है। हृदय की स्पन्दनहीनता से तात्पर्य है : हृदय में जडता का समावेश। आज मानव जीवन में भावुकता का कोई स्थान स्पष्टतया दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। मेरा तो यह विश्वास है, भावुक हृदय ही सृष्टि की नैसर्गिक चेतना वा पवित्र और अनन्त ज्योति को जीवन में धारण कर, अपने वायुमंडल (वातावरण) को आलोकित कर सकता है......अन्य कोई नहीं। भावुकता से रहित जीवन का मूल्य (?) शून्य से अधिक है ही क्या ? विना मुकुर सम मानस के तरंगित हुए, कवि और उसकी कृति को समझने की कल्पना ऐसी ही है जैसे कि हम बिना खड़े हुए ही दौड़ने की भावना कर बैठें।

भावों के शब्द चित्रकार कवि की अभिव्यक्ति, प्रायः मौलिक सूझ बूझमयी होती है। प्रत्येक कवि की कृति में हम उसकी अभि-

व्यक्ति को समझ कर, रसानुभूति के सहारे कवि को साक्षात् करने की, अपने में क्षमता उत्पन्न कर सकते हैं। इस रमणीय और भिन्न रुचि विचित्र्य वसुधा में, कोई किसी सुगन्ध पर मुग्ध है तो कोई किसी रस का पिपासु। एक जीवन की सगुण रूप राशि की ओर बढ़ रहा है, तो कोई दूसरा निर्गुण निरंजन में सत्य के दर्शन कर रहा है। यही रुचि वैचित्र्य कवि और साहित्यिक के जीवन को रस की परिपक्वता के अनन्तर, उसमें स्थायित्व वा अजर-अमरता के भाव आरोपित करता है। सुकवि, कृति के लिए कभी अपनी कृति सृजन नहीं करता, प्रत्युत अपनी सुन्दरतम, रूपमयी, रसीली, कल्पना के प्रदर्शन मिस छन्द, ताल और लयादि में अपनी भावाभिव्यक्ति के साथ साथ अपनी प्रतिभा से संसार को आकर्षित करता है।

कवि की अभिव्यक्ति के विषय में यह बात निर्विवाद और सत्य है कि वह जितना अधिक भावुक, तरंगित और जागरूक और हृदय-वान् क्षमताशील होगा, उसके कवित्व में उतनी ही शक्ति अधिक विशाल और प्रवाहमय रहेगी। सिद्ध और सफल कवि की कविता रानी का रूप तो सदैव निर्मल निखार की ओर, स्पष्ट और स्वच्छ रहता है। यह बात भी अविस्मरणीय है कि कवि की अभिव्यक्ति, वातावरण और काल से कभी मुक्त नहीं रहती; तदनन्तर भी काव्यमय कवि का काव्य कभी रस रहित और मुमूर्षु नहीं होता, संभवतः इसी को दृष्टि में रख कर देव-वाणी में कवि की महिमा का कीर्तन करते हुए कहा है:—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"

और

"पश्य देवस्य काव्यं न ममार, न जीर्यति।"

(कुमारी निर्मला माथुर)

———

अनुक्रमणिका